मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त

ब्रजेश्वर वर्मा

मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त

जनेश्वर वर्मा
एम-ए० (हिन्दी, भाषा-विज्ञान) पी- एच० डी०
क्राइस्ट चर्च कालेज
कानपुर

समाजवादी साहित्य सदन, लखनऊ
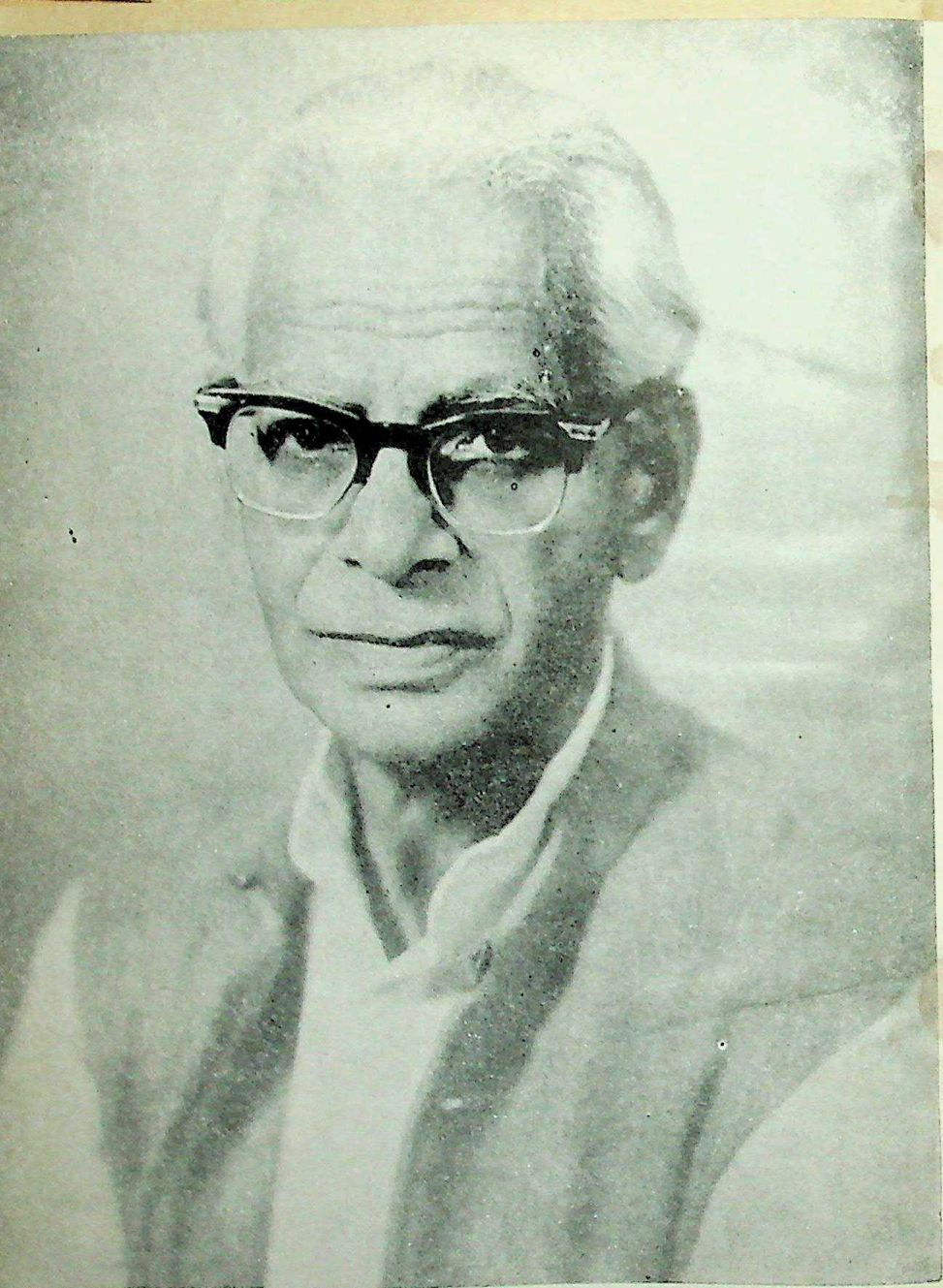
शिव वर्मा

लाहौर-षड्यंत्र-केस में आजीवन कारावास दण्ड भोगी • जनमुक्ति आन्दोलनों में ब्रिटिश सरकार और काँग्रेस सरकार की जेलों में जीवन के बीस वर्ष से भी अधिक व्यतीत करने वाले • जन क्रान्ति के अग्रणी • मार्क्सवाद के अमर सेनानी

शिवदा

को

साक्षी है इतिहास आज होने को पुनः युगान्तर
श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन यंत्रों पर।
वर्गहीन सामाजिकता देगी सब को सम साधन,
पूरित होंगे जन के, भवजीवन के निखिल प्रयोजन।

— पन्त

भूमिका

वर्तमान युग में मार्क्सवाद के सम्बंध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित हो गई हैं। ऐसे व्याख्याताओं की भी कमी नहीं है जो समाजवाद और मार्क्सवाद को एक दूसरे से अलग कर के तरह तरह के आकर्षक विशेषणों के साथ उस के रंगीन चित्र जन साधारण को दिखाते रहते हैं। 'जनवादी' समाजवाद अथवा 'प्रजातांत्रिक' समाजवाद की चर्चा हम आए दिन सुनते ही रहते हैं। देश में अनेक ऐसी संस्थाएँ हैं और उत्पन्न होती जा रही हैं जो अपने आप को समाजवादी कहती हैं परन्तु प्रत्येक सस्था की समाजवादी धारणा दूसरी से भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में आज सामान्य व्यक्ति के लिए यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि वैज्ञानिक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद से कौन कितने निकट है। ऐसी पुस्तकें भी देखने को मिली हैं जिनमें मार्क्सवादी सिद्धान्तों को तोड़ मरोड़ कर बड़े ही विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त संशोधनवादियों और समन्वयवादियों की भी कमी नहीं है जो आए दिन मार्क्सवादी सिद्धान्तों में मन चाहा परिवर्तन करके उसे अपने विचारों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं। अतः यह पुस्तक पाठकों को मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों का यथावत् संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित परिचय देने के उद्देश्य से प्रस्तुत की जा रही है।

मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक पक्ष का उद्घाटन करने के लिए मार्क्स और एंगेल्स के मूल ग्रन्थों तथा लेनिन, स्तालिन आदि उनके जाने माने व्याख्याकारों की रचनाओं का ही आश्रय ग्रहण किया गया है और उन्हीं के कथनों के आधार पर सिद्धान्तों का स्वरूप निर्णय किया गया है। दार्शनिक पक्ष का विवेचन करते समय यथा प्रसग भारतीय सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त तुलनात्मक उल्लेख कर दिया गया है। इस के अतिरिक्त

सैद्धान्तिक व्याख्या को सर्वांगपूर्ण बनाने के विचार से, संक्षिप्तता का ध्यान रखते हुए भी, प्रत्येक सिद्धान्त से सम्बंध रखने वाली उन समस्त समस्याओं पर भी सम्यक प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है जिनको लेकर किसी प्रकार की भ्रान्ति या विकृति के उत्पन्न होने की आशंका हो सकती थी।

यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस सम्पूर्ण विवेचन में लेखक ने पूर्णत: तटस्थ रहने का प्रयास किया है। उसने अपनी ओर से किसी प्रकार की निन्दात्मक या प्रशंसात्मक टीकाटिप्पणी या आलोचना करना उचित नहीं समझा है क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य मार्क्सवाद की श्रेष्ठता या हीनता का प्रतिपादन करना न होकर उसके सत्य स्वरूप को यथावत् प्रस्तुत कर देना मात्र है।

इस पुस्तक के लेखन में मुझे अपने शिक्षागुरु श्रद्धेय पं० अयोध्यानाथ शर्मा से जो प्रोत्साहन एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ है वह मेरे लिए एक गौरव की वस्तु है। पुस्तक की विषय वस्तु सम्बन्धी अधिकांश सामग्री मुझे अपने बड़े भाई श्री शिव वर्मा द्वारा प्राप्त हुई है। वास्तव में मेरा इस पुस्तक से केवल इतना ही संबंध है कि शिवदा के द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री को उन्हीं के निर्देशन में मैंने अपने शब्दों में लिख भर दिया है। पाण्डुलिपि को पुस्तक का आकार प्रदान करने का भी सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं को है। मैं उन्हें धन्यवाद देने का नहीं बल्कि उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा एवं आदर भावना को व्यक्त कर सकने का ही अधिकारी हूं। इन पंक्तियों को लिखते समय मेरे दो प्रिय शिष्य—डॉ० विमल और कु० पन्ना—अनायास ही मेरी स्मृति में आ जाते हैं जिनके सहायता के हाथ मेरे हर छोटे बड़े अनुष्ठान में सदा आगे ही बढ़े रहते हैं। वे मेरे व्यक्तित्व के ऐसे अभिन्न अंग बन गए हैं कि उन्हें धन्यवाद देने की बात सोचना भी एक हल्की औपचारिकता मात्र प्रतीत होती है।

फरवरी १९७०
कानपुर

जनेश्वर वर्मा

विषय - क्रम

★

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

- मार्क्सवाद का महत्व ।
- मार्क्स का जीवन परिचय ।
- मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक स्वरूप ।

मार्क्सवाद का महत्व

आज यह एक सर्वमान्य सत्य है कि मार्क्सवाद संसार की महान शक्तिशाली विचार-धाराओं में से एक है। उसके समर्थक और उसके विरोधी दोनों ही इस महान शक्ति का अनुभव कर रहे हैं। मार्क्सवाद के प्रसार के साथ-साथ एक नवीन जीवन दर्शन का आविर्भाव हुआ है जिसके प्रकाश में हमारी सम्पूर्ण सामाजिक संस्थायें एक नये साँचे में ढलती जा रही हैं। कला, साहित्य और संस्कृति तक उसके प्रभाव से मुक्त नहीं है।

मार्क्सवाद की इस तीव्रगामी शक्ति का मूलाधार उसकी आर्थिक अथवा राज-नीतिक व्यवस्था मात्र नहीं है। उसका एक दार्शनिक पक्ष भी है और यह दार्शनिक पक्ष ही उसकी शक्ति का मूलाधार है। आर्थिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था को तो उसी का परिणाम अथवा व्यावहारिक रूप मात्र कहा जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में मार्क्सवाद अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। अद्वैतवाद को छोड़कर अन्य कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो मार्क्सवादी दर्शन के समानान्तर चल सके परन्तु दोनो की दिशायें भिन्न हैं। अद्वैतवाद जीव और ब्रह्म की व्याख्या करता है परन्तु भौतिक जीवन के प्रति उदासीन रह कर उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। उसके लिए इतिहास एक असम्बद्ध घटनाओं का समूह मात्र है। इसके विपरीत मार्क्सवादी दर्शन भौतिक जीवन में आस्था रखते हुए उसकी व्याख्या करता है। इतिहास को वह असम्बद्ध घटनाओं के रूप में न देख कर एक सुसंबद्ध क्रमिक विकास के रूप में देखता है और इस विकास क्रम को स्पष्ट करने के लिए अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में उसकी व्याख्या करता है तथा भावी योजनाओं का निर्माण करता है। इस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन वह जीवन सूत्र है जो समाज के ऐतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक से लेकर सांस्कृतिक और साहित्यिक पक्षों तक में एक ऐसी एकसूत्रता स्थापित कर

देता है कि फिर हम उन्हें एक दूसरे से अलग कर के नहीं देख सकते। मार्क्सवाद का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है।

अपने आत्मचरित्र में पं० जवाहर लाल नेहरू ने मार्क्सवाद के इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सराहना करते हुए स्वीकार किया है कि **मार्क्सवादी दर्शन ने उनके मस्तिष्क के अंधकार को दूर करके उसे एक नवीन आलोक से परिपूर्ण कर दिया जिसके प्रखर प्रकाश में उनके लिये इतिहास एक नवीन अर्थ लेकर आया। उस पर पड़े हुये रहस्य के आवरण हटने लगे और वह समस्त अन्तर्भूत प्रवृत्तियों के साथ अपने सत्य स्वरूप में व्यक्त हो गया।** मार्क्सवादी दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप उन्हें कितनी आशामयी प्रेरणा प्राप्त हुई इसका उल्लेख करते हुए इसी प्रसंग में वे लिखते हैं कि **अतीत और वर्तमान के अत्यधिक दुर्दशा ग्रस्त होने पर भी उन्हें भविष्य उज्ज्वल और आशाजनक प्रतीत होने लगा और इस प्रकार मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया।**[1] आगे चलकर विश्वव्यापी महान आर्थिक संकट की ओर संकेत करके वे एक स्थान पर पुनः लिखते हैं **"जिस समय संसार के अन्य समस्त सिद्धान्त अंधेरे में भटक रहे थे उस समय केवल मार्क्सवाद ही ऐसा था जो परिस्थितियों की संतोषजनक व्याख्या करने और एक सच्चा समाधान प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका।"**[2] मेरे कहने का आशय केवल इतना ही है कि मार्क्सवादी दर्शन साधारण

---

1. 'Russia apart, the theory and philosophy of Marxism lightened up many a dark corner of my mind. History came to have a new meaning for me. The Marxist interpretation threw a flood of light on it, and it became an unfolding drama with some order and purpose, however unconscious, behind it. In spite of the appalling waste and misery of the past and the present, the future was bright with hope, though many dangers intervened. It was the essential freedom from dogma and the scientific outlook of Marxism that appealed to me.'
Jawahar Lal Nehru—An Autobiography, pp. 362–363.

2. 'The great world crisis and slump seemed to justify the Marxist analysis. While all other systems and theories were groping about in the dark, Marxism alone explained it more or less satisfactorily and offered a real solution.'
Jawahar Lal Nehru—An Autobiography, P. 363.

नहीं है। उसने आरम्भ से ही शिक्षित और विचारशील व्यक्तियों को आकर्षित और प्रभावित किया है। हमारे कवि, लेखक और कलाकार भी इसके अपवाद नहीं हैं।

आज प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह मार्क्सवाद का समर्थक हो या विरोधी मार्क्सवादी प्रभाव से मुक्त नहीं है क्योंकि वर्ग-चेतना उसके अंतर में ऐसी व्याप्त हो गई है जो पग पग पर उसे सोचने के लिए विवश करती है। वह अनुभव करता है कि समाज दो श्रेणियों में विभाजित हो गया है। एक ओर साधन सम्पन्नता है और दूसरी ओर साधन हीनता। एक ओर थोड़े से व्यक्तियों का स्वार्थ है और दूसरी ओर विशाल जन समुदाय। अपने व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे विषमताओं का एक अनवरत द्वन्द्व दिखलाई देता है जिससे मर्माहत होकर वह सोचता है कि इस संघर्ष में उसका स्थान कहाँ है। उसे दो मार्ग दिखलाई देते हैं और वह जानना चाहता है कि इनमें से कौन-सा मार्ग उसके लिए कल्याणकारी होगा। पिछले सौ वर्षों का इतिहास साक्षी है कि पूंजीवाद की निर्बल कड़ियाँ एक-एक करके टूटती जा रही हैं और समाजवादी शक्तियों का निरन्तर विकास होता जा रहा है। इसी आधार पर हम यह बात कह सकते हैं कि मार्क्सवाद आज एक विकासशील शक्ति है। अतः अब इस विकासशील शक्ति की, जिसने हमारे समाज की प्रत्येक शाखा को न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित किया है, अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती। युग की आवश्यकता इस बात की माँग करती है कि अब उसके सैद्धांतिक स्वरूप का प्रत्येक दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक अध्ययन होना चाहिए।

मार्क्स और ऐंगेल्स का प्रसिद्ध **कम्युनिस्ट घोषणा पत्र** सन् १८४८ ई० के आरम्भ में संसार के सामने आया। इसी को मार्क्सवादी विचारधारा की प्रथम व्यवस्थित अभिव्यक्ति समझना चाहिए। **कम्युनिस्ट घोषणा पत्र** के प्रकाशन के बाद ही मार्क्सवादी विचारधारा ने एक संगठित अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण किया जिसके फलस्वरूप समय-समय पर अनेक देशों में क्रान्तियों का सूत्रपात हुआ।

सन् १९१४-१८ ई० के विश्व व्यापी प्रथम महायुद्ध के समय संसार की पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी स्वार्थ भावना से परिचालित होकर युद्ध में व्यस्त थीं। उसी समय मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित रूस की बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन के नेतृत्व में पूंजीवाद की निर्बल कड़ी जारशाही पर प्रहार किया। अक्टूबर सन् १९१७ ई० की सफल क्रान्ति के फलस्वरूप जारशाही का अंत हो गया और उसके स्थान पर समाजवादी सोवियत संघ की स्थापना हुई।

पूंजीवाद का आविर्भाव सर्व प्रथम योरोपीय देशों में, विशेषकर इंगलैण्ड, जर्मनी और फ्रान्स में ही हुआ था। फलतः पूंजीवाद से उत्पन्न होनेवाली विषमताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप विभिन्न साम्यवादी विचारधाराओं का आरम्भ भी योरोप के इन्ही देशों में हुआ, जिसका चरम विकास हम मार्क्सवाद के रूप में देखते हैं। आरम्भ में मार्क्सवादी विचारधारा योरोप के पश्चिमी देशों तक ही सीमित थी, परन्तु सोवियत संघ की स्थापना विश्व इतिहास की एक ऐसी घटना थी जिसने समस्त संसार को मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया। संसार के सभी देशों में मार्क्सवाद की चर्चा आरम्भ हुई और सब की दृष्टि सोवियत संघ की ओर गई—किसी ने उसे भय और आशंका की दृष्टि से तो किसी ने उसे आश्चर्य और उत्साह की दृष्टि से देखा।

मार्क्स का जीवन परिचय

महान व्यक्तियों के जीवन की छोटी-छोटी घटनायें भी उनके सिद्धांतों की ओर महान संकेत करती हैं। किसी भी महापुरुष के व्यक्तियत्व को हम उसके सिद्धान्तों से अलग करके नहीं देख सकते। जिस प्रकार गान्धी जी का व्यक्तित्व उनके सिद्धान्तों में समाया हुआ है उसी प्रकार जीवन की अनेक छोटी बड़ी घटनाओं से झलकने वाला मार्क्स का व्यक्तित्व भी उसके सिद्धान्तों के साथ मिल कर एकाकर हो गया है। फलतः मार्क्स का जीवन परिचय मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण के लिए एक अनिवार्य भूमिका का कार्य करता है।

अपने जन्म स्थान ट्रियर नगर की पाठशाला की अंतिम परीक्षा में लगभग १७ वर्ष की अवस्था में मार्क्स ने जो निबंध लिखा था उसमें ही उन महान सिद्धान्तों के बीजांकुर विद्यमान थे जो आज **मार्क्सवाद** के नाम से अभिहित है। निबंध का विषय था—**'जीवन वृत्ति का चुनाव करने से पहले एक तरुण के विचार'** और मार्क्स ने इस निबंध में एक स्थान पर लिखा था कि **जिस जीवन वृत्ति के लिये हम अपने**

आप को सबसे अधिक योग्य समझते हैं, बहुधा उसे हम चुन नहीं पाते। इससे पहले कि हम अपने सामाजिक संबंधों का निर्माण करें वे स्वयं एक बड़ी सीमा तक अपना रूप निर्धारित कर चुकते हैं।'[1] मार्क्स के इन शब्दों से इतनी छोटी अवस्था में ही सामाजिक यथार्थ को ग्रहण करने की उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिल जाता है। तत्व चिन्तन की प्रवृत्ति, यथार्थपरक दृष्टिकोण और और सैद्धांतिक दृढ़ता उनके व्यक्तित्व के प्रधान अंग थे। उद्देश्य की एक निष्ठता को वे जीवन का सबसे बड़ा गुण मानते थे। उनकी सम्पूर्ण जीवन कथा ही असत्य और अन्याय के विरोध तथा सत्य और न्याय पक्ष के समर्थन की कहानी है।

× × ×

मार्क्स का पूरा नाम कार्ल हाइनरिख मार्क्स था। उसका जन्म ५ मई सन् १८१८ ई० को जर्मनी के प्रशा प्रदेश के अन्तर्गत ट्रियर नगर के रहने वाले एक यहूदी परिवार में हुआ था। उसके पिता हीरस्केल एक एडवोकेट थे और स्वभाव से बड़े ही दुनियादार और नम्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे जो सांसारिक ऐश्वर्य और मान मर्यादा को आदर्शों और सिद्धन्तों की मर्यादा से ऊपर समझते थे। अपनी वकालत और सामाजिक प्रतिष्ठा के विचार से सन् १८२४ ई० में उन्होंने यहूदी धर्म छोड़ कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और अपना नाम बदल कर हीरस्केल के स्थान पर हाइनरिख मार्क्स कर लिया। इस समय कार्ल मार्क्स की अवस्था केवल ६ वर्ष की थी।

मार्क्स की प्रारम्भिक शिक्षा ट्रियर नगर की पाठशाला में ही हुई जहां से १७ वर्ष की अवस्था में उसने मैट्रिक पास किया। मार्क्स के पिता की इच्छा थी कि उनका पुत्र भी उन्हीं की तरह एक वकील बने फलतः उन्होंने सन् १८३५ ई० में मार्क्स को कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिये बोन विश्वविद्यालय में भेजा परन्तु मार्क्स का मन कानून की शिक्षा में अधिक नहीं लगा। इसी बीच उसका आकर्षण जेनी वान वेस्ट फलेन नामक एक सम्पन्न परिवार की लड़की के प्रति हो गया जिसके साथ वह बचपन में खेल भी चुका था। यह आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम में बदल गया। इन सब कारणों में मार्क्स के पिता उसके बोन विश्वविद्यालय के विद्यार्थी जीवन से बहुत असन्तुष्ट थे। उन्होंने मार्क्स को बोन विश्वविद्यालय से हटाकर बर्लिन के विश्वविद्यालय में कानून दर्शन और इतिहास आदि की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा।

---

१. आदित्य मिश्र—कार्ल मार्क्स, पृ० ३।

बर्लिन विश्वविद्यालय से मार्क्स की जीवन कथा का एक नवीन अध्याय आरम्भ होता है। बोन विश्वविद्यालय में पढ़ने लिखने में उसका मन अधिक नहीं लगता था पर बर्लिन आते ही वह अध्ययन में पूरी तरह जुट गया। कानून में उसकी रुचि अधिक नहीं थी। दर्शन और इतिहास उसके प्रिय विषय थे और इन्हीं के अध्ययन में वह अपना अधिकांश समय व्यतीत करता था। वह स्वभाव से ही एक स्वतंत्र विचारक था अतः विश्वविद्यालय के मंजे हुये और एक सांचेमें ढले हुये व्याख्यानों से उसे संतोष नहीं होता था। अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिये वह मित्रों तक से मिलना जुलनाबंद करके रात दिन पढ़ने में ही लगा रहता था। बर्लिन के विद्यार्थी जीवन में कितनी ही रातें उसने दार्शनिक तथ्यों के मनन और चिन्तन में जाग कर व्यतीत कीं।

उन दिनों बर्लिन हेगेलवादी दर्शन का केन्द्र था। मार्क्स भी हेगेल की दार्शनिक मान्यताओं से बहुत प्रभावित हुआ। विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों न मिल कर हेगेल के दर्शन का अध्ययन और मनन करने के लिये एक क्लब बना रक्खा था। मार्क्स भी इस क्लब का सदस्य बन गया और उसके कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेने लगा। इस प्रकार बर्लिन विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त करने से पहले ही उसने हेगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन करके उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

अध्ययन और दार्शनिक चिन्तन में लीन रहते हुये भी मार्क्स अपनी प्रेमिका जेनी को नहीं भूल सका। उसने जेनी की स्मृति में तीन जिल्द प्रणय संबंधी कवितायें लिखीं। भाषा पर मार्क्स का पूरा अधिकार था और वह अपने विचारों को बड़ी ही सुन्दर और अलंकृत भाषा में व्यक्त कर सकने की क्षमता रखता था परन्तु क़ाव्य प्रतिभा उसके पास नहीं थीं। फलतः मार्क्स की यह कवितायें युवावस्था की प्रेम भावनाओं का उद्‌गार मात्र ही थीं। उनका साहित्यिक महत्व अधिक नहीं था। हेगेल के दर्शन का अनुयायी होने पर उसने अपनी इन समस्त कविताओं को जला दिया।

मार्क्स के पिता वृद्ध हो चले थे। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र भी उन्हीं की तरफ एक दुनियादार वकील बनता परन्तु मार्क्स एक स्वतंत्र प्रकृति का व्यक्ति था। उनके हृदय में पिता के प्रति आदर भावना अवश्य थी परन्तु उसका स्वभाव उनसे भिन्न था। पिता में जहां दुनियादारी और सांसारिक प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य की कामना थी वहां मार्क्स में कभी न झुकने वाली एक सैद्धान्तिक दृढ़ता थी। वह परिवार

सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व से उदासीन होता जा रहा था और सामाजिक तथा दार्शनिक चिन्तन में ही लीन रहता था। इससे उसके पिता को बड़ी निराशा हुई और वे अनुभव करने लगे कि उनका पुत्र उनके हाथ से बाहर होता जा रहा है। उनकी रुग्णता बढ़ती गई और १० फरवरी, सन् १८३८ ई० को उनकी मृत्यु होगई। इस समय मार्क्स की अवस्था २० वर्ष की थी।

पिता की मृत्यु के पश्चात मार्क्स दर्शन शास्त्र में डाक्टरेट पाने के लिये अपने शोध प्रबन्ध को पूरा करने में लग गया। उसने यूनान के प्राचीन वस्तुवादी दार्शनिक देमोक्राइतस और इपीक्यूरस के प्रकृति-दर्शन संबंधी अन्तर को स्पष्ट करते हुये एक गवेषणात्मक निबंध लिखा जिसके फलस्वरूप जेना विश्वविद्यालय से सन् १८४१ ई० में उसे डाक्टर की उपाधि प्रदान की गई।[1] मार्क्स को आशा थी कि दर्शन शास्त्र में डाक्टरेट मिल जाने पर बोन विश्वविद्यालय में उसे प्राध्यापक का कार्य मिल जायगा परन्तु क्रान्तिकारी विचारों का पोषक होने के कारण उसकी यह आशा पूरी नहीं हो सकी।

क्रान्तिकारी विचारों का दमन करने के लिये प्रशा की सरकार ने अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाने आरम्भ किये यहां तक कि दार्शनिक पत्र भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। इधर मार्क्स ने अपनी लेखनी द्वारा सरकार की नीति की आलोचना करना तथा पुरानी रूढ़ियों और मिथ्या विश्वासों पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया। इस विषय पर उसका पहला लेख **राइनिशज़ाइटुंग**[2] नामक स्वतंत्र विचारों की एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। यह पत्रिका कोलोन से प्रकाशित होती थी और प्रजा सत्तात्मक शासन पद्धति का समर्थन करती थी। मार्क्स के लेखों ने लोगों का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकर्षित किया। १५ अक्टूबर सन् १८४२ ई० को मार्क्स को इस पत्रिका के सम्पादन का भार सौंपा गया। उसके संपादन काल में यह पत्रिका और अधिक प्रगतिशील और जन प्रिय हो गई। पत्रिका की बढ़ती हुई लोकप्रियता से आतंकित होकर सरकार ने मार्च सन् १८४३ ई० को पत्रिका के प्रकाशन को बंद करवा दिया।

राइनिश ज़ाइटुंग के सम्पादकीय विभाग से अलग हो जाने के बाद मार्क्स को जर्मनी में रहना कठिन हो गया। पुलिस उसके पीछे रहने लगी और किसी भी दिन

---

१. ई० स्तेपानोवा — कार्ल मार्क्स : एक जीवनी, पृ० ७।

2. 'Rheinische zeitung' (राइन का गजट)

राजद्रोह के अपराध में उसके पकड़ लिये जाने का भय उत्पन्न हो गया। इसी बीच मार्क्स के कुछ मित्रों ने फ्रान्स की राजधानी पेरिस से एक नई पत्रिका के प्रकाशन का आयोजन किया और उसके सम्पादन कार्य के लिये उन्होंने मार्क्स को ५०० थेलर प्रति मास देने का भी प्रबन्ध कर दिया। जेनी के साथ मार्क्स की सगाई पहले ही हो चुकी थी अब इस आय की आशा पर मार्क्स ने १६ जून सन् १८४३ ई० को अपना विवाह कर लिया औप कुछ दिनों के बाद उसे साथ लेकर पेरिस चला गया।

मार्क्स ने पेरिस में आकर पत्र सम्पादन का कार्य तो आरम्भ किया परन्तु संयोगवश यह योजना भी स्थायी नहीं हो सकी। फरवरी सन् १८४४ ई० में पत्र का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ और यही उसका अंतिम अंक भी था क्योंकि इसके बाद ही कुछ कारणों से पत्र का प्रकाशन बन्द हो गया। इस पत्र में मार्क्स के दो महत्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुये। एक का शीर्षक था **हेगेल के औचित्य दर्शन की समीक्षा'** और दूसरे का **यहूदियों का प्रश्न**। वास्तव में यह दोनों ही निबंध एक दूसरे के पूरक थे जिनमें वर्ग संघर्ष और समाजवादी समाज की दार्शनिक रूपरेखा की ओर संकेत किया गया था। इन निबंधों में प्रकाशित सामग्री के आधार पर प्रशा की सरकार ने मार्क्स के ऊपर राजद्रोह का आरोप लगाया और आज्ञा दी कि जर्मनी की सीमा में प्रवेश करते ही उसे गिरफ्तार कर लिया जाय।

पत्र के इसी अंक में ऐंगेल्स के भी दो लेख प्रकाशित हुये थे। मार्क्स इन लेखों को पढ़ कर ऐंगेल्स की प्रतिभा एवं विचारधारा से बहुत प्रभावित हुआ और सम्पर्क बनाये रखने के लिये उससे पत्र व्यवहार करने लगा। यों तो मार्क्स और ऐंगेल्स का प्रथम परिचय सन् १८४२ ई० में कोलोन में ही हो चुका था पहन्तु वह भेंट मित्रता की दृष्टि से अधिक लाभ दायक सिद्ध नहीं हुई और दोनों एक दूसरे के अधिक निकट नही आ सके। इस बार इन लेखों के आधार पर जिस आकर्षण और मित्रता का सूत्रपात हुआ उसमें निरन्तर वृद्धि होती गई। मार्क्स और ऐंगेल्स की यह मित्रता मृत्यु पर्यन्त स्थिर रही। दोनों ने मिल कर अनेक पुस्तकें लिखीं। उनके विचारों में आश्चर्यजनक साम्य था। जैसी बौद्धिक एकता मार्क्स और ऐंगेल्स में देखने को मिलती है उसके उदाहरण संसार में बहुत ही कम हैं इसी लिये मार्क्सवाद का उल्लेख करते समय दोनों का नाम साथ साथ लिया जाता है। वास्तव में मार्क्स

---

1. 'A criticism of Hegel's Philosophy of Law.'

और ऐंगेल्स दोनों के संयुक्त विचारों ने मिल कर ही पूरे मार्क्सवाद की सृष्टि की है। उन्हें एक दूसरे से अलग करके देखना कठिन है।

पत्र के बन्द हो जाने के पश्चात प्रशा की सरकार के कोप के कारण मार्क्स का जर्मनी वापस जाना सम्भव नहीं था। फलतः उसने पेरिस को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया। निष्क्रिय बैठना उसके स्वभाव के विपरीत था। कोलोन में **राइनिश जाइटुंग** के सम्पादन काल में मार्क्स ने अनुभव किया था कि अर्थशास्त्र के ज्ञान के बिना सामाजिक विकास को भली प्रकार समझ सकना सम्भव नहीं है और तभी से वह अर्थशास्त्र के अध्ययन में लगा हुआ था। पेरिस में मार्क्स का यह अध्ययन और आगे बढ़ा। इसके अतिरिक्त वह फ्रान्स की सामाजिक स्थिति और विभिन्न समाजवादी क्रान्तिकारी विचारधाराओं के अध्ययन में भी प्रवृत्त हुआ। उस समय तक योरोप में सामाजिक क्रान्ति सब से अधिक उग्ररूप में फ्रान्स में ही हुई थी। इसलिए क्रान्तिकारी विचारों को आत्मसात् करने के लिए उसने सब से पहले अपनी दृष्टि फ्रान्स की सामाजिक क्रान्तियों तथा उनके मूल में स्थित उन विचारधाराओं पर डाली जिन को लेकर वे क्रान्तियां उठ कर आगे बढ़ी थीं। उसे यह बात स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगी कि फ्रान्स की क्रान्ति के जितने भी चिन्तक थे वे मूलतः भौतिकवादी थे। फलतः पेरिस में रह कर उसने हेलवेटियस और होलबाख के क्रान्तिकारी भौतिकवाद का अध्ययन किया क्योंकि इन्हीं दो भौतिकवादियों के सिद्धान्तों के आधार पर फ्रान्स की १८ वीं शताब्दी की क्रान्ति आधारित थी। पेरिस उन दिनों जर्मनी से राजद्रोह के अपराध में निकाले गये क्रांतिकारियों का अड्डा था। मार्क्स ने उन क्रान्तिकारियों से तथा फ्रान्स के मजदूरों की अनेक गुप्त संस्थाओं से भी अपना सम्पर्क स्थापित किया और यदा कदा उनकी बैठकों में भी भाग लेने लगा। प्रोधाँ आदि फ्रान्स के बड़े-बड़े समाजवादियों से भी मार्क्स का अच्छा परिचय हो गया।

सितम्बर सन् १८४४ ई० में ऐंगेल्स कुछ दिनों के लिये पेरिस आया और मार्क्स से मिला। यहीं दोनों ने मिलकर **पवित्र परिवार अथवा आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना**' नामक ग्रन्थ की रचना आरम्भ की जिसमें सामाजिक क्रान्तियों के प्रकाश में दार्शनिक तथ्यों पर विचार किया गया था। इन्हीं दिनों पेरिस से **फ़ोर वार्ट्स**'

---

1. 'The Holy family or A Critique of Critical Criticism.'

2. 'Vorwarts' (फ़ोर वार्ट्स = आगे बढ़ो)

के नाम से एक जर्मन पत्रिका प्रकाशित होती थी। मार्क्स ने इस पत्रिका में लिखना आरम्भ किया और उसके सम्पादन में भी भाग लेने लगा। प्रशा की सरकार ने मार्क्स को इस पत्रिका का क्रियाशील सहयोगी समझ कर फ्रान्स की सरकार पर इस बात के लिये दबाव डाला कि वह मार्क्स को पेरिस से निर्वासित कर दे। फलत: १६ जनवरी सन् १८४५ ई० को फ्रान्स की सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकल जाने की आज्ञा दे दी।

फ्रान्स से निर्वासित होकर मार्क्स ३ फरवरी सन् १८४५ ई० को अपने परिवार के साथ बेल्जियम देश की राजधानी ब्रूसेल्स में आ गया। कुछ दिनों के बाद ऐंगेल्स भी ब्रूसेल्स में आकर मार्क्स से मिल गया। १२ जुलाई सन् १८४५ ई० के लगभग दोनों ने मिलकर इंलैण्ड की यात्रा की। वहां पर जाकर उन्होंने अर्थशास्त्र सम्बन्धी अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया तथा वहां के मजदूर आन्दोलन की गतिविधि एवं इंगलैण्ड के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त किया। कुछ समय के बाद दोनों फिर ब्रूसेल्स वापस आ गये।

मार्क्स ने अपने जीवन के तीन वर्ष ब्रूसेल्स में व्यतीत किये। इन तीन वर्षों में उसने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। सन् १८४६ ई० के आरम्भ में उसने ऐंगेल्स की सहायता से **कम्युनिस्ट करेस्पाण्डेंस कमेटी** के नाम से एक संस्था की स्थापना की जिसकी शाखायें अनेक देशों में स्थापित की गई। इस संस्था का मूल उद्देश्य था विभिन्न देशों के समाजवादी आन्दोलनों एवं श्रमिक वर्ग के प्रगतिशील प्रतिनिधियों में सम्पर्क एवं संगठनात्मक एकता स्थापित करना। सन् १८४७ ई० में उसने प्रोधाँ की पुस्तक **दरिद्रता का दर्शन** का उत्तर देते हुये तथा उसकी मान्यताओं का खण्डन करते हुये **दर्शन की दरिद्रता** नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसमें ऐतिहासिक भौतिकवाद की पहली स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की गई। वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये इसी वर्ष अगस्त के महीने में उसने 'जर्मन वर्कर्स सोसायटी' नामक संस्था की स्थापना की और इसी संस्था के तत्वावधान में ब्रूसेल्स में उसने श्रम मजदूरी और पूंजी की विस्तृत व्याख्या करते हुये एक व्याख्यान माला आरम्भ की। सितम्बर सन् १८४७ ई० में ऐंगेल्स के सहयोग से **डेमोक्रेटिक ऐसोसियेशन** के नाम से ब्रूसेल्स में उसने एक अन्य संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य था, जनतंत्रवाद का प्रचार करना और इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स आदि अन्य देशों के जनतन्त्रात्मक आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित करना। मार्क्स ने इस संस्था के कार्यक्रम में बहुत ही सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

उन दिनों लंदन में **लीग आफ़ दि जस्ट** नामक एक संस्था थी। इस संस्था ने सन् १८४७ ई० के आरम्भ में अपना एक प्रतिनिधि भेज कर मार्क्स और ऐंगेल्स को लीग में सम्मिलित होने और उसका पुनर्संगठन करके उसके लिये नवीन कार्यक्रम निर्धारित करने के लिये आमंत्रित किया। मार्क्स और ऐंगेल्स ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और लीग के सदस्य बन गये। इस लीग की स्थापना पेरिस में सन् १८३३ ई० में हुई थी। उन दिनों पेरिस जर्मनी से निर्वासित क्रान्तिकारियों का अड्डा था। इन क्रान्तिकारियों ने ही **लीग आफ़ आउट लाज़** के नाम से इस संस्था को आरम्भ किया था। तीन वर्ष के बाद सन् १८३६ ई० में इसका नाम बदल कर **लीग आफ़ दि जस्ट** कर दिया गया। सन् १८४० ई० में इसका दफ्तर पेरिस से हट कर लंदन आ गया। सन् १८४७ ई० में मार्क्स और ऐंगेल्स के सदस्य बन जाने के पश्चात् उनके प्रयत्न से इसका नाम बदल कर **कम्युनिस्ट लीग** हो गया। इस लीग की दूसरी कांग्रेस नवम्बर सन् १८४७ ई० में लंदन में हुई जिसमें मार्क्स और ऐंगेल्स को लीग के कार्यक्रम और सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए एक ऐसे घोषणा पत्र को तय्यार करने का काम सौंपा गया जिसे जन साधारण के सम्मुख कम्युनिस्ट लक्ष्य के रूप में रखा जा सके।

मार्क्स और ऐंगेल्स ने इस उत्तरदायित्व का बड़ी योग्यता के साथ निर्वाह किया। उनका लिखा हुआ **घोषणा पत्र** वर्तमानयुग की एक अद्वितीय कृति मानी जाती है जो आज १०० वर्षों के बाद भी संसार के समाजवादियों का पथप्रदर्शन कर रही है। सम्पूर्ण रचना ४० पृष्ठों से अधिक नहीं होगी फिर भी इन ४० पृष्ठों में आधुनिक युग की सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों का सूत्ररूप में बड़ा ही वैज्ञानिक एवं सर्वांगपूर्ण विश्लेषण किया गया है साथ ही सामाजिक विकास क्रम के अन्तर्भूत सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुये भावी लक्ष्य की ओर संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त घोषणा पत्र की ओजस्विनी शैली और इसकी भाषा का साहित्यिक सौष्ठव भी दार्शनीय है। उसके अंतिम शब्द हैं—**सर्वहारा के पास दासता की शृंखलाओं को छोड़ कर अब और कुछ खोने के लिये बाकी नहीं है परन्तु विजय के लिये उसके सम्मुख एक विशाल विश्व है। ऐ दुनिया के मजदूरो एक हो।**[1] इस घोषणा पत्र का अनुवाद आज संसार की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुकी है और बाइबिल को छोड़ कर शायद ही कोई अन्य पुस्तक हो जिसकी इतनी अधिक प्रतियां छापी गई हों।

---

1. "Proletarians have nothing to lose but their chains. They have a world to win. Proletarians of all lands, unite!"
Karl Marx and F. Engels — The Communist Manifesto, p 68.

इस घोषणा पत्र के प्रकाशित होने के कुछ समय के बाद ही सन् १८४८ ई० के आरम्भ में फ्रान्स जर्मनी आदि अनेक देशों में क्रान्ति की भीषण ज्वालायें धधक उठीं और समस्त योरोप का राजनीतिक वातावरण जन-क्रान्ति की हलचल से क्षुब्ध हो उठा। बेल्जियम की सरकर को भी अपने देश में क्रान्ति के फैल जाने की आशंका उत्पन्न हो गई फलतः उसने मार्क्स को जनतंत्रवादी आन्दोलन का सक्रिय नेता समझ कर गिरफ्तार कर लिया और ४ मार्च सन् १८४८ ई० को बेल्जियम की सीमा से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे दी। इधर फरवरी सन् १८४८ ई० की क्रान्ति के फलस्वरूप फ्रान्स में जिस अस्थायी सरकार की स्थापना हुई थी उसके प्रमुख सदस्य फ्लोकों ने मार्क्स को पेरिस आने के लिये आमंत्रित किया फलतः ५ मार्च सन् १८४८ ई० को मार्क्स पेरिस आ गया। पेरिस आते ही उसे **कम्युनिस्ट लीग** की केन्द्रीय समिति का प्रधान निर्वाचित कर लिया गया।

मार्च के महीने में जर्मनी में भी क्रान्ति आरम्भ हो गई और मार्क्स और ऐंगेल्स अपने अनेक साथियों के साथ इस क्रान्ति में सक्रिय भाग लेने के लिये पेरिस छोड़ कर जर्मनी आ गये। आते ही उसने कोलोन **से न्यू राइनिश जाइटुंग** का प्रकाशन आरम्भ कर दिया और लेखों और समाचार पत्रों के द्वारा क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करने लगा साथ ही अनेक क्रान्तिकारी संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करके क्रान्ति के प्रसार में सक्रिय भाग लेने लगा। संयोगवश मार्क्स को जर्मनी में अधिक समय तक रहने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका। क्रान्ति के विफल होते ही उस पर विद्रोह का मुक-दमा चलाया गया और उसे जर्मनी की सीमा से बाहर निकाल दिया गया। जर्मनी से निर्वासित होकर २ जून सन् १८४९ ई० के लगभग वह पुनः पेरिस आ गया परन्तु पेरिस में भी वह अधिक समय तक नहीं रह सका। १३ जून सन् १८४९ ई० को सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन किया गया और उसके कुछ समय के बाद ही उसे पेरिस से भी निकल जाने की आज्ञा दे दी गई। २४ अगस्त सन् १८४९ ई० को मार्क्स पेरिस छोड़ कर अपने परिवार सहित लंदन आ गया। इसके बाद का लगभग ३४ वर्षों का अपना शेष जीवन उसने लंदन में रह कर ही व्यतीत किया।

इंगलैण्ड में रह कर मार्क्स और उसके परिवार को घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। उसकी आय का कोई निश्चित साधन नहीं था। भोजन और वस्त्र सम्बन्धी उसकी दैनिक आवश्यकतायें भी पूरी नहीं हो पातीं थीं। उसकी शोचनीय दशा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १८५२ ई० में जब दवा इलाज के अभाव में उसकी नन्हीं सी पुत्री की मृत्यु हो गई तो उसकी पत्नी पड़ोसियों

में २ पौण्ड उधार ले कर बड़ी कठिनता से उसके अंतिम संस्कार का प्रबन्ध कर सकी।[1] अभाव का जीवन व्यतीत करते हुये कम से कम खर्च में उसकी पत्नी अपना निर्वाह करने का प्रयत्न करती थी फिर भी नित्य प्रति उन पर ऋण का बोझ बढ़ता जा रहा था। कभी कभी तो ऐसे अवसर भी आ जाते थे जब अपनी पाण्डुलिपियों को डाकखाने में भेजने के लिये उसके पास टिकट के दाम भी नहीं होते थे। अपने वस्त्रों को बन्धक रख कर पुस्तक लिखने के लिये कागज खरीदना पड़ता था और वस्त्रों के बन्धक हो जाने पर घर से बाहर भी नहीं निकल पाता था।[2] सन् १८५१ ई० से लेकर १८६० ई० तक **न्यू यार्क ट्रिब्यून** में लिखे गये लेखों से उसे जो कुछ पारिश्रमिक मिल जाता था उसी से किसी न किसी प्रकार अपना काम चलाता था। सन् १८६० ई० के बाद अपने मित्र विल्हेल्म वोल्फ की ८०० पौण्ड की वसीयत पा जाने तथा ऐंगेल्स के द्वारा उसके लिये ३५० पौंड वार्षिक की व्यवस्था कर दिये जाने से उसकी दशा कुछ सुधर गई।

एक ओर तो घोर आर्थिक संकट और अभाव जन्य अनेक छोटी बड़ी चिन्तायें उसे घेरे हुए थीं दूसरी ओर उसका महान मस्तिष्क भौतिक चिन्ताओं की इस क्षुद्र परिधि से ऊपर उठ कर गम्भीर अध्ययन और चिन्तन में व्यस्त था। सुबह १० बजे से लेकर शाम के सात बजे तक वह संसार के सब से बड़े पुस्तकालय ब्रिटिश म्यूजियम में समाज शास्त्र और अर्थशास्त्र संबंधी ग्रथोंके अध्ययन में और उनसे सामग्री चयन करने में तल्लीस रहता था और कभी-कभी तो घर पर आकर भी पूरी रात काम करते हुये ही व्यातीत कर देता था। भूख और कमज़ोरी में इतना अधिक परिश्रम करने का परिणाम यह होता था कि ब्रिटिश म्यूजियम में पढ़ते पढ़ते यदा कदा वह मूच्छित होकर अपनी कुर्सी से लुढ़क कर गिर जाता था। इस प्रकार वर्षों के निरंतर परिश्रम के पश्चात् उसने तीन बृहत खण्डों में **कैपिटल** अर्थात् **पूंजी** नामक महाग्रन्थ का निर्माण किया। यह मार्क्स की सर्व श्रेष्ठ कृति मानी जाती है। लगभग ८०० पृष्ठों में इसके प्रथम खण्ड का जर्मन संस्करण मार्क्स ने सन् १८६७ ई० में प्रकाशित कराया परन्तु उसके द्वितीय और तृतीय खण्ड उसके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सके। उनकी पांडुलिपियों में अनेक संपादकीय टिप्पणियां जोड़ने की आवश्यकता थी। यह कार्य

---

1. 'Reminiscences of Marx & Engels', Foreign Languages Publishing House, Moscow. p. 228.

2. Ibid. p. 263.

ऐंगेल्स के कन्धों पर आ पड़ा। **पूंजी** के दूसरे और तीसरे खण्ड को छपने के लिए तय्यार करने में ही ऐंगेल्स ने अपना अधिक ध्यान लगाया। इस प्रकार पूंजी का दूसरा खण्ड १८८५ ई० में और तीसरा खण्ड १८९४ में प्रकाशित हुआ। इन दोनो खण्डों के बारे में लेनिन ने कहा था कि वे दो व्यक्तियों, मार्क्स और ऐंगेल्स—की रचनायें हैं। अर्थशास्त्र सम्बन्धी इस महान कृति के तीन खण्डों के बाद उपसंहार के रूप में एक चौथा खण्ड भी निकलने वाला था। इसमें अर्थशास्त्र के सबसे केन्द्रीय विषय अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का समीक्षात्मक विश्लेषण दिया जाता। मार्क्स की मृत्यु के बाद उनके मित्र ऐंगेल्स की योजना थी कि इस पाण्डुलिपि को एक अलग पुस्तक के रूप में **पूंजी** के चौथे खण्ड के रूप में सम्पादित और प्रकाशित किया जाय। लेकिन उसकी योजना भी सफल न हो सकी। ऐंगेल्स की मृत्यू के बाद ही यह पुस्तक **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त** (१९०५) नाम से प्रकाशित हो सकी।[१] **कैपिटल** के प्रथम खण्ड में मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि पूंजी कैसे उत्पन्न होती है और पूंजी लगा कर किस प्रकार मुनाफा कमाया जाता है। द्वितीय खण्ड में उसने फैक्टरी उत्पादन से लेकर उपयोग तक पूंजी की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण किया है तथा तृतीय खण्ड में उसने यह दिखलाया है कि पूंजी द्वारा कमाया गया मुनाफा पूंजीपति वर्ग में किस प्रकार बांटा जाता है।

मार्क्स न केवल विचारवाद और सिद्धान्त निरूपण में ही अपने सम्पूर्ण समय को नहीं लगाया। वह ज्ञान और कर्म की एकता के महत्व को भली भाँति जानता था। एक ओर तो उसने **कैपिटल** जैसे महान ग्रन्थ की रचना की और दूसरी ओर सन् १८६४ ई० में उसने मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नींव डाली जो **प्रथम इण्टरनेशनल** के नाम से अभिहित है। ८ सितम्बर सन् १८६७ ई० में इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का दूसरा अधिवेशन हुआ जिसमें यह निर्णय किया गया कि श्रमिकवर्ग की सामाजिक स्वतंत्रता का प्रश्न राजनीतिक क्रियाशीलता के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है अतः राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना सबसे अधिक आवश्यक और प्रथम कर्तव्य है। तभी से योरोप के पूंजीवादी देश इस संगठन को सशंक नेत्रों से देखने लगे। यह संस्था दस वर्षों तक जीवित रहकर सन् १८७४ ई० में समाप्त हो गई।

इंगलैण्ड में मार्क्स ने अपने जीवन के लगभग ३४ वर्ष व्यतीत किये। अनेक आर्थिक कठिनाइयों और भौतिक चिन्ताओं के तथा सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करते रहने के

---

१. ई० स्तेपानोवा—कार्ल मार्क्स : एक जीवनी, पृ० ५४।

कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा और जीवन के अन्तिम दिनों में वह अनेक शारीरिक व्याधियों से पीड़ित रहने लगा। स्वास्थ्य लाभ के लिये उसे योरोप के कई स्थानों पर ले जाया गया परन्तु उसकी दशा में कोई सुधार नहीं हो सका और १४ मार्च सन् १८८३ ई० को वह इस संसार से चल बसा। लन्दन के हाईगेट कब्रस्तान में आज भी उसकी समाधि विद्यमान है।

मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक स्वरूप

मार्क्स और ऐंगेल्स कम्युनिज्म अथवा वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता कहे जाते हैं। यों तो १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में योरोप में समाजवाद के नाम से राबर्ट ओवेन्, सेण्ट साइमन, फूरिये लुई ब्लाँ, प्रोधाँ, लास्साल आदि की अनेक विचारधारायें प्रचलित थीं परन्तु मार्क्स और ऐंगेल्स ने मिल कर जिन सिद्धान्तों का निरूपण और प्रतिपादन किया वे इन सबसे भिन्न थे। अपने इन सिद्धान्तों के माध्यम से मार्क्स और ऐंगेल्स ने संसार, समाज और जीवन के प्रति एक सर्वथा नवीन 'दृष्टिकोण हमारे सामने रक्खा जिसका लक्ष्य समाज के किसी अंग विशेष का सुधार करना नहीं वरन् मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक अस्तित्व को ही एक नये सांचे में ढालना था।'[1] तत्कालीन अन्य समाजवादी विचारधाराओं की तुलना में इन सिद्धान्तों की यही सबसे बड़ी विशेषता थी।

मार्क्स, ऐंगेल्स की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति था और वैज्ञानिक समाजवाद के मूल सिद्धान्तों के निरूपण में भी उसकी देन ऐंगेल्स की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण

---

1. Philosophy of Socialism'—Introduction by Dr. Z. A. Ahmad, p. 8.

थी इसलिये वैज्ञानिक समाजवाद को मार्क्सवाद भी कहा जाता है। मार्क्सवाद शब्द की उपयुक्तता का समर्थन करते हुये और सैद्धान्तिक क्षेत्र में मार्क्स की देन को स्वीकार करते हुये ऐंगेल्स ने फ्योरबाख सम्बन्धी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा था **"जो कुछ मैंने किया है वह मार्क्स मेरी सहायता के बिना भी भली प्रकार कर सकता था परन्तु जो कुछ मार्क्स ने किया वह मेरे लिये संभव नहीं था। उसकी प्रतिभा उच्च कोटि की थी और वह अधिक दूरदर्शी था। हम लोगों की अपेक्षा उसकी दृष्टि अधिक व्यापक एवं तीव्र थी। उसके बिना ये सिद्धान्त अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकते थे। अतः इन सिद्धान्तों पर उसके नाम की छाप होना सर्वथा उचित ही है।"**[1]

मार्क्सवाद के दो मूल सिद्धान्त हैं—एक ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त और दूसरा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त। इन दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसंधान का श्रेय कार्ल मार्क्स को दिया जाता है। मार्क्स और ऐंगेल्स द्वारा प्रतिपादित समाजवादी दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रकाश में मानव इतिहास और समाज के विकास क्रम की विश्लेषण पद्धति को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त वर्तमान पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था की गतिविधि का रहस्योद्‌घाटन करता है। ऐंगेल्स के शब्दों में **"इन दोनों ही महान अनुसंधानों के जनक मार्क्स हैं। इतिहास संबंधी भौतिकवादी धारणा द्वारा सामाजिक विकास को समझाने और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त द्वारा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का रहस्य प्रकट करने का श्रेय मार्क्स को है। इन्हीं अनुसंधानों के फलस्वरूप समाजवाद एक विज्ञान की कोटि में आ पहुंचा।"**[2] इस प्रकार यह दोनों सिद्धान्त मिल कर वह आधारभूमि प्रस्तुत करते हैं जिस पर सम्पूर्ण मार्क्सवादी विचारधारा का भवन निर्मित हुआ है। इन अनुसंधानों के लिये मार्क्स की प्रशंसा करते हुये उसकी

---

1. 'Ludwig Feuerbach and the outcome of classical German Philosophy'—Foot note by Engels, p. 50.

2. 'These two great discoveries, the materialistic conception of history and the revelation of the secret of capitalistic production through surplus-value, we owe to Marx. With these discoveries socialism became a science.' Marx Engels Selected Works (Socialism Scientific & Utopian—Engels) Vol. II. p. 125.

मृत्यु के पश्चात् लंदन के हाईगेट कब्रस्तान में, उसके शव के अंतिम संस्कार के समय भाषण देते हुये ऐंगेल्स ने कहा था "**एक जीवन को सफल बनाने के लिये इस प्रकार के दो अनुसंधान ही पर्याप्त हैं। यदि कोई व्यक्ति एक जीवन काल में इस प्रकार के एक अनुसंधान का भी श्रेय प्राप्त कर सके तो वह निश्चित ही अपने आप को अत्यधिक गौरवान्वित समझेगा।**"[1]

मार्क्सवाद की विस्तृत व्याख्या करने से पहले हमें यह भी जान लेना चाहिए कि उपर्युक्त सिद्धान्तों के रूप में मार्क्स ने कोई नवीन आविष्कार नहीं किया है। यह दोनों ही सिद्धान्त उसकी कल्पना की आकस्मिक उपज न होकर पहले से विद्यमान कतिपय विचारधाराओं के विकास की अंतिम परिणति मात्र हैं। ऐंगेल्स ने भी इन्हें आविष्कार न कह कर अनुसंधान ही कहा है क्योंकि इन सिद्धान्तों के बीजांकुर हीगेल और फ्योरबाख़ तक चली आई जर्मन दार्शनिक प्रणाली से लेकर ब्रिटेन के राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ्रान्स के क्रान्तिकारी समाजवाद तक बिखरे हुए थे। मार्क्स ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा इन बिखरे हुए सूत्रों को ग्रहण किया, व्यर्थ की उलझनों को काट छांट कर उन्हें सुलझाया और एक में मिला दिया। लेनिन के शब्दों में "**मार्क्स ही वह प्रतिभाशाली व्यक्ति था जिसने योरोप के तीन महान देशों की १९ वीं शताब्दी की तीन महान विचारधाराओं अर्थात जर्मन दर्शन, अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ्रान्स की समाजवादी क्रान्तिकारी विचारधाओं को आगे बढ़ाया और पूर्णता प्रदान की।**"[2] कहनेका तात्पर्य यह है कि मार्क्सवादी सिद्धान्तों का मूल लेनिन द्वारा कही हुई उपर्युक्त तीनों विचारधाराओं में पहले से ही विद्यमान था। मार्क्स ने इन तीनों का गम्भीर अध्ययन करके इनके सारतत्व को ग्रहण कर लिया और बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से उनका समन्वय और ऐकीकरण करके अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर अब हम यह कह सकते हैं कि मार्क्सवाद के तीन पक्ष हैं—**दार्शनिक, ऐतिहासिक** और **आर्थिक**। यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रकार का विभाजन हम केवल अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही कर सकते हैं अन्यथा मार्क्सवाद संसार के प्रति एक ऐसा समन्वित और अविभाज्य

---

1. Speech at th e graveside of Karl Marx by Engels—Marx Engels Selected Works, Vol. II., p. 153.

2. Lenin—Marx Engels Marxism, p. 19.

दृष्टिकोण है जिसके किसी भी पक्ष को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है।'

मार्क्सवाद के दार्शनिक पक्ष का आधार **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** है। मार्क्स और ऐंगेल्स ने दर्शन के क्षेत्र में ही सर्व प्रथम अपने नवीन दृष्टिकोण का विकास किया था। तत्कालीन जर्मन फ़िलासफ़ी के अध्ययन और आलोचना द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण जड़ और चेतन प्रकृति के क्रिया कलाप को समझने के लिए जिस व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया उसे ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। सत और चित् जीव और जगत अथवा वस्तु और विचार में किसकी प्रधानता है और उनमें किस प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध है? प्रकृति के सम्पूर्ण घटनाचक्र के पीछे कौन से नियम कार्य करते हैं और उन नियमों का मानव समाज के विकास और परिवर्तन से क्या सम्बन्ध है? इन समस्त प्रश्नों का समाधान द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

मार्क्सवाद का ऐतिहासिक पक्ष मानव इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है जिसे **ऐतिहासिक भौतिकवाद** की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसे हम मार्क्सवाद के दार्शनिक पक्ष का ही एक सीमित रूप कह सकते हैं क्योंकि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्यापक परिधि के अंतर्गत जड़ और चेतन प्रकृति का सम्पूर्ण क्रिया-कलाप आ जाता है जबकि ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव समाज और मानव इतिहास के विकास क्रम तक ही सीमित है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सम्पूर्ण मानव इतिहास असम्बद्ध और आकस्मिक घटनाओं का समूह मात्र नहीं है वरन् उसके पीछे विकास का एक निश्चित क्रम विद्यमान है जिसे हम चाहें तो भली प्रकार समझ सकते हैं। सामाजिक परिवर्तनों के पीछे भी वही नियम कार्य करते हुए दिखलाई देते हैं जो सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं। समाज की धार्मिक आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक इत्यादि विभिन्न संस्थाओं में एक अविच्छेद संबंधसूत्र

---

1. 'Marxism is a highly unified and integrated outlook upon the world. It is a seamless coat, which cannot be cutup without spoiling. Still purely for the purpose of preliminary exposition, it is possible to differentiate three particular aspects cf the science.'

John Strachey—The Theory and Practice of Socialism, P P. 356–357.

विद्यमान है। मनुष्य जिन परिस्थितियों में रहकर जीवन-यापन के लिए उत्पादन कार्य में प्रवृत्त होता है, उसके वे उत्पादन संबंध ही उसकी सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप का निर्णय करते हैं। एक में परिवर्तन उपस्थित होने पर दूसरे में भी परिवर्तन का होना आवश्यक है।

मार्क्सवाद का आर्थिक पक्ष वर्तमान पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के विकास का रहस्योद्घाटन करता है। यह रहस्योद्घाटन अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के प्रकाश में आने पर ही सम्भव हो सका है इसलिए हम कह सकते हैं कि **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत** ही मार्क्सवाद के आर्थिक पक्ष का मूलाधार है। जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अपेक्षा ऐतिहासिक भौतिकवाद की परिधि सीमित थी उसी प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद की तुलना में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की परिधि भी बहुत सीमित है। ऐतिहासिक भौतिकवाद जहाँ सम्पूर्ण मानव विकास की सामान्य व्याख्या करता है वहाँ अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त केवल वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था पर ही अपनी दृष्टि डालता है और उसकी प्रवृत्तियों की सूक्ष्म व्याख्या करता है। किस प्रकार वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित है? पूंजीपति किस प्रकार मजदूरों का शोषण करते हैं? किस प्रकार समाज में एक ओर गरीबी और बेकारी बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर थोड़े से व्यक्तियों के पास सामाजिक सम्पत्ति केन्द्रित होती जा रही है? सामाजिक उत्पादन और व्यक्तिगत उपभोग की इस विषमता को दूर करके किस प्रकार शोषण का अंत किया जा सकता है? इन समस्त प्रश्नों का समाधान अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

अब हम नीचे लिखे हुए उन तीन सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं जिन पर प्रकाश डालने से उपर्युक्त तीनों पक्षों के सहित सम्पूर्ण मार्क्सवादी विचारधारा को स्पष्ट किया जा सकता है:—

१—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त।
२—ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त।
३—अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।

●●●

द्वितीय अध्याय

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

- द्वन्द्ववाद का मूल ।
- द्वन्द्ववाद और अतिभूतवाद ।
- द्वन्द्ववाद के सामान्य नियम ।
- विरोधि समागम का नियम ।
- मात्राभेद से गुणभेद का नियम ।
- प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम ।
- मार्क्स द्वारा द्वन्द्वात्मक पद्धति का उपयोग ।
- भौतिकवाद और आत्मवाद ।
- भौतिकवादी दर्शन का आरम्भ ।
- यांत्रिक भौतिकवाद ।
- द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ।

द्वन्द्ववाद का मूल

मनुष्य से लेकर प्रकृति के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को परखने और समझने का जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण है उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। यह दृष्टिकोण द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद, इन दो विचार पद्धतियों के संयोग से विकसित हुआ है, इसी लिए इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की संज्ञा प्रदान की गई है। स्तालिन के शब्दों में **"यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहा जाता है कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने, परखने और पहचानने का इसका ढंग द्वन्द्वात्मक है और इन प्राकृतिक घटनाओं की इसकी व्याख्या, धारणा एवं सिद्धान्त-विवेचना भौतिकवादी है।"**[1]

यों तो द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद, दोनो ही विचार परम्परायें बहुत प्राचीन हैं परन्तु आधुनिक युग में द्वन्द्ववाद को विकसित एवं पल्लवित करने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक **हेगेल** को दिया जाता है और इसी प्रकार भौतिकवाद को योरोप में पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय **फ्योरबाख** को है। मार्क्स और ऐंगेल्स इन दोनो की मान्यताओं से बहुत प्रभावित हुए परन्तु उन्होंने न तो हेगेल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद को बिना किसी परिवर्तन के जैसे का तैसा स्वीकार किया और न फ्योरबाख के भौतिकवाद को ही। **"मार्क्स और ऐंगेल्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद से आदर्शवादी आवरण को हटाकर उसके बुद्धि संगत सारतत्व को ग्रहण कर लिया और उसका इस तरह विकास किया कि उसे एक आधुनिक वैज्ञानिक रूप प्राप्त हो जाय।"**[2] और इसी तरह उन्होंने

---

1. J. Stalin—'Problems of Leninism', P. 569.

२. वही, पृ० ५६६।

"**फ्योरबाख के भौतिकवाद से आदर्शवादी, धार्मिक और नैतिक आवरण को दूर करके उसके सारतत्व को ग्रहण करके उसे एक वैज्ञानिक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में विक-सित किया।**"[१] इस प्रकार मार्क्स ऐंगेल्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हेगेल और फ्योरबाख के द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद से बहुत कुछ भिन्न है।

यूनान के प्राचीन दार्शनिक सत्य को प्राप्त करने के लिए द्विसंवादात्मक तर्क प्रणाली का प्रयोग करते थे अर्थात् एक व्यक्ति एक बात कहता था, दूसरा उसका खण्डन करके विरोधी मत सामने रखता था और इस प्रकार दो परस्पर विरोधी मतों के संघर्ष और समन्वय से एक तीसरी नई बात निकल आती थी जो उन दोनो की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत होती थी। "**यूनान के दार्शनिक सुकात ने भी अपने उपदेशों के लिए यही ढंग स्वीकार किया था और प्रश्नकर्ता के प्रश्न का जो उत्तर वह देना चाहता था, उसे प्रश्नोत्तर द्वारा स्वयं उसी के मुँह से कहलवाता था। यह ढंग सुकात के बाद इतना पसन्द आया कि उसके शिष्य अफ़लातूं ने इसे परम सत्य तक पहुंचने का साधन बत-लाया।**"[२] इसी प्रश्नोत्तर पद्धति में हमें द्वन्द्ववाद का प्रथम आभास मिलता है।

जहाँ तक शब्द की व्युत्पत्ति का संबंध है, हमें यह भी जान लेना चाहिए कि हिंदी में **द्वन्द्ववाद** अंग्रेजी के **डायलेक्टिक्स**[३] शब्द के लिए प्रयोग किया जाता है। **डायलेक्टिक्स** शब्द ग्रीक भाषा के **दिआलेगो**[४] से बना है जिसका अर्थ है चर्चा करना, विवाद करना। प्राचीन समय में द्वन्द्ववाद वह कला थी जिससे कोई वक्ता अपने विरोधी के तर्क में असंगति दिखाकर और उसका निराकरण करके सत्य का प्रतिपादन कर सकता था।[५] इससे यह सिद्ध है कि प्राचीन काल में द्वन्द्ववाद का प्रयोग **वादे वादे जायते तत्व बोध:** के अर्थ में ही अधिकतर होता था। परन्तु आजकल दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्ववाद अथवा डायलेक्टिक्स का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में किया जाने लगा है। उसने अपने प्राचीन मुख्यार्थ को छोड़कर एक नवीन लक्ष्यार्थ धारण कर लिया है। अब द्वन्द्ववाद से द्विसंवाद की सामान्य पद्धति का बोध न होकर दार्शनिक चिन्तन की एक पद्धति विशेष का बोध होता है जिसका उल्लेख आगे की पंक्तियों में किया जा रहा है।

---

१. वही, पृ० ५६६।

२. राहुलसांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० १३।

3. Dialectics.

4. 'Dialego' (Greek) to discourse; to debate.

५. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृ० ११५।

द्वन्द्ववाद और अतिभूतवाद

किसी भी वस्तु व्यापार अथवा घटना को चाहे वह सामान्य प्रकृति से संबंधित हो या समाज अथवा व्यक्ति के जीवन से देखने, समझने और परखने के दो ही तरीके हो सकते हैं। पहला तरीका तो यह है कि हम किसी व्यापार अथवा घटना को उसके पूर्वापर संबंध से अलग करके, उसे स्थिर और अगतिशील अवस्था में देखने का प्रयत्न करें। ऐसी दशा में उस घटना का सामान्य दृष्टि से दिखलाई पड़ने वाला ऊपरी रूप ही हमारे सामने आयेगा और वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हुई सी मालूम पड़ेगी। इसी बात को और स्पष्ट करके हम इस तरह कह सकते हैं कि परीक्षण के समय जिस घटना का जो रूप होगा केवल वही हमारे सामने रहेगा। प्रत्येक घटना शृंखला की एक टूटी हुई कड़ी के समान स्वतंत्र दिखलाई देगी जिसका आगे की और पीछे की घटनाओं से कोई संबंध न होगा। इसके विपरीत दूसरा तरीका यह है कि हम प्रत्येक घटना को गतिशीलता अथवा विकास की अवस्था में देखने का प्रयत्न करें। ऐसी दशा में उस घटना के पूर्वापर संबंध पर भी दृष्टि डालना आवश्यक हो जायगा और वह विकास क्रम की शृंखला में पिरोई हुई एक कड़ी के समान दिखलाई देगी। जिसे आगे और पीछे की कड़ियों से अलग नहीं किया जा सकेगा। इस दृष्टि से देखने पर घटना का स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो जायगा और वह कार्य-कारण संबंध के द्वारा आगे और पीछे की अनेक घटनाओं से, अनिवार्य रूप से, गुंथी हुई दिखलाई देगी अर्थात् उसकी वर्तमान अवस्था की व्याख्या करने के लिए उसकी बीती हुई और आगे आने वाली दोनो ही अवस्थाओं पर विचार करना आवश्यक हो जायगा।

उपर कही हुई परीक्षण की प्रथम विधि को **अति-भौतिक**[1] और दूसरी को **द्वन्द्वात्मक**[2] कहा जाता है। किसी घटना की व्याख्या द्वारा हम किस निर्णय पर पहुंचते हैं

---

1. Metaphysical.

2. Dialectical.

यह हमारी परीक्षण विधि पर ही निर्भर करता है। एक ही घटना को यदि प्रथम विधि से देखा जाय तो हमारा निर्णय कुछ और होगा और दूसरी विधि से कुछ और।

उदाहरण के लिए हम युद्ध की बात को ही ले लें। जब-जब युद्ध होता है मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ जाग उठती हैं। वह निर्मम और निर्दय होकर हिंसा और रक्त-पात में लग जाता है। कितने ही निरीह नागरिक युद्ध की विभीषिका में समाप्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं युद्ध के समाप्त होने के बाद भी उसके फलस्वरूप देश में कुछ काल के लिए गरीबी, तबाही और कंगाली छाई रहती है। अब इन उपर्युक्त बातों के प्रकाश में यदि हम युद्ध की घटना पर प्रथम अर्थात् अति-भौतिक विधि से विचार करें तो एक स्वर से हमारा निर्णय यही होगा कि युद्ध पाप और घृणा की वस्तु है। जो व्यक्ति युद्ध के हिंसा-कार्य में प्रवृत्त होते हैं और अगुआ बनते हैं वे हमारी घृणा के पात्र होंगे और उन्हें हम क्रूर, नृशंस, हत्यारे, मानवता के शत्रु आदि कहकर संबोधित करेंगे परन्तु इसी बात को यदि हम दूसरी अर्थात् द्वन्द्वात्मक विधि से देखना चाहें तो अपना निर्णय देने से पहले हम उसके पूर्वापर संबंध पर भी विचार करेंगे। पहली अवस्था में हमने परिस्थितियों पर कोई ध्यान नहीं दिया था और युद्ध पर एक स्वतंत्र घटना के रूप में विचार किया था परन्तु अब हम यह भी देखेंगे कि युद्ध के पहले क्या परि-स्थितियाँ थीं, उन परिस्थितियों ने किस तरह युद्ध को जन्म दिया और उस युद्ध का देश और समाज के लिए क्या परिणाम निकला। इन सब बातों पर विचार करने के पश्चात् ही हम उसके अच्छे और बुरे होने के संबंध में अपना निर्णय दे सकेंगे। हो सकता है कि उस युद्ध के फलस्वरूप आततायी वर्ग का विनाश हुआ हो, देश को स्वतंत्रता मिली हो, और भावी उन्नति के लिए मार्ग खुल गया हो। ऐसी दशा में हम उसे पाप और घृणा की वस्तु न कहकर उसका स्वागत करेंगे। वह अभिशाप न होकर वरदान कहा जायगा। इसी प्रकार युद्ध का नेतृत्व करने वाले व्यक्ति भी क्रूर और हत्यारे न कहला कर महापुरुष और राष्ट्रीय नेता आदि के विशेषण प्राप्त करेंगे और हमारी श्रद्धा के पात्र बनेंगे। युद्ध के विनाश और रक्तपात को हम यह कहकर सहन कर लेंगे कि यदि युद्ध न हुआ होता तो संभव है आततायी के हाथों हमें इससे अधिक विनाश और रक्तपात का सामना करना पड़ता। इस प्रकार अतिभौतिक विधि से परीक्षा करने पर हिंसा और युद्ध सदा अनुचित ही कहे जायेंगे, परन्तु द्वन्द्वात्मक विधि से परीक्षा करने पर वे परिस्थितियों के अनुसार उचित और अनुचित दोनो ही हो सकते हैं।

बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम स्वतंत्रता की भावना का एक उदाहरण और ले सकते हैं। व्यक्ति आरम्भ से ही स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करता चला आ रहा

है। स्वतंत्रता सदा ही उसके लिए वांछित और प्रिय रही है। बिना स्वतंत्रता के हम उज्ज्वल भविष्य की कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु यदि समाज में व्यक्तियों को हिंसा, लूटमार और सब तरह की मनमानी करने की भी स्वतंत्रता मिल जाय तो फिर उस समाज का भविष्य कैसा होगा? क्या ऐसी दशा में भी हम स्वतंत्रता को प्रिय और वांछित कह सकेंगे? इससे यही सिद्ध होता है कि परिस्थितियों की उपेक्षा करके यदि हम इस प्रकार का स्थायी निर्णय कर दें कि स्वतंत्रता सदा ही अच्छी है या सदा ही बुरी है तो यह हमारी एक बहुत बड़ी भूल होगी। वास्तव में उसके अच्छे और बुरे होने का निर्णय परिस्थितियों की सापेक्षता में ही किया जा सकता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में ही स्वतंत्रता हमारे लिए वांछनीय और उपयोगी कही जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से अतिभूतवाद और द्वन्द्ववाद का अन्तर बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। अतिभूतवादी वस्तु-व्यापार और घटनाओं को परिस्थितियों से काट कर स्थिर और अगतिशील अवस्था में देखता है, फलतः उसके निर्णय भी सामान्य, स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं। उसके लिए हिंसा सदा ही पाप है तो अहिंसा सदा ही अच्छी है, असत्य भाषण सदा ही बुरा है तो सत्य-भाषण सदा ही अच्छा है इत्यादि। परन्तु इसके विपरीत द्वन्द्ववादी प्रत्येक वस्तु को निरंतर विकास एवं परिवर्तन की अवस्था में देखता है। उसके लिए प्रकृति का कोई भी क्रिया व्यापार अपने में स्वतंत्र नहीं है। एक घटना अपनी पूर्ववर्ती घटना का परिणाम है तो परवर्ती घटना का कारण भी है। परिवर्तन विश्व के रोम-रोम में व्याप्त है। परिस्थितियाँ निरंतर बदलती रहती हैं और इन परिस्थितियों से संबद्ध मानव स्वभाव, आचार-विचार, विश्वास और धारणायें भी बदलती रहती हैं।

वातावरण के प्रभाव से हम बदलते हैं तो हमारे प्रभाव के फलस्वरूप वातावरण भी बदलता है। क्रिया और प्रतिक्रिया का यह क्रम विश्व में अबाध गति से चलता रहता है। जो कुछ हम देखते हैं वह ऊपर से भले ही वैसा दिखलाई दे परन्तु वास्तव में वह दृश्य वैसा नहीं है जैसा एक क्षण पहले था। विकास का अर्थ है गतिशीलता। जब प्रत्येक वस्तु गतिशील है तब उसके संबंध में हमारा निर्णय भी अतिभूतवादी की तरह स्थायी और अगतिशील कैसे हो सकता है? परिस्थितियाँ बदलती हैं उनके साथ रीति-नीति और आचार-विचार भी बदलते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में जिस बात को हम अच्छा कहते हैं, बदली हुई परिस्थितियों में वही बात बुरी भी कही जा सकती है। प्राचीन काल में आर्यों में नियोग की प्रथा प्रचलित थी परन्तु आधुनिक समाज को यह प्रथा मान्य नहीं है। पहले सती प्रथा को लोग अच्छा समझते थे परन्तु अब अमान्य

ही नहीं दण्डनीय भी है । इस प्रकार द्वन्द्ववादी दृष्टिकोण स्थिर और अगतिशील न होकर सदा परिस्थिति सापेक्ष होता है । वह किसी सनातन न्याय में विश्वास नहीं करता ।

मार्क्सवाद अतिभूतवाद का विरोधी एवं द्वन्द्ववाद का समर्थक है । व्यक्ति से लेकर प्रकृति तक की सम्पूर्ण घटनाओं की व्याख्या करने का उसका एकमात्र दृष्टिकोण द्वन्द्ववाद ही है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए ऐंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ड्यूहरिंग मत खण्डन में लिखा है– "द्वन्द्ववाद की कसौटी प्रकृति है और आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के बारे में यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने इस कसौटी के लिये अत्यन्त मूल्यवान सामग्री दी है जो प्रति दिन बढ़ती जा रही है । इस प्रकार उसने सिद्ध कर दिया है कि अंततोगत्वा प्राकृतिक क्रम द्वन्द्वात्मक है, न कि अतिभूतवादी ।"[1]

स्तालिन ने अतिभूतवाद और द्वन्द्ववाद के अंतर को स्पष्ट करते हुये मार्क्सवादी दृष्टिकोण से द्वन्द्ववाद के मुख्य लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार किया है–[2]

१—'अतिभूतवाद के प्रतिकूल द्वन्द्ववाद के अनुसार प्रकृति ऐसे तत्वों एवं पदार्थों का आकस्मिक संघटन नहीं है जो परस्पर स्वतंत्र विच्छिन्न और असम्बद्ध है । द्वन्द्ववाद के अनुसार प्रकृति सम्बद्ध और पूर्ण इकाई है । उसके पदार्थ और वाह्य रूप एक दूसरे पर निर्भर हैं, एक दूसरे से सजीव रूप से संबंध हैं और परस्पर एक दूसरे की रूपरेखा निश्चित करते हैं । इसलिये द्वन्द्वात्मक प्रणाली का यह सिद्धान्त है कि अपने चारों ओर के संघटन से अलग रह कर के कोई भी प्राकृतिक घटना अपने आप में बूझी परखी नहीं जा सकती ।

२—'अतिभूतवाद की तरह द्वन्द्ववाद का यह सिद्धान्त नहीं है कि विराम और गति हीनता एवं अचल जड़ता और स्थिरता का नाम प्रकृति है । प्रकृति का लक्षण है

---

1. "Nature is the test of dialectics, and it must be said for modern natural science that it has furnished extremely rich and daily increasing materials for this test and has thus proved that in the last analysis Natures' process is dialectical and not metaphysical."
   F. Engels : Anti - Duhring, P. 29.

२. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास (हिन्दी संस्करण) जन प्रकाशन गृह, बम्बई, १९४४, पृ० ११६से ११६ ।

अविराम गतिशीलता और परिवर्तन, नित्य नव-नवोन्मेष और विकास । इस परिवर्तन क्रम में कुछ तत्वों का उन्मेष और विकास होता रहता है तो कुछ का ह्रास और निर्वाण भी होता जाता है । इसलिए द्वन्द्ववादी प्रणाली के अनुसार प्राकृतिक घटनाओं की परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता को ध्यान में रख कर ही उन पर विचार करना यथेष्ट नहीं है । हमें उनकी गति परिवर्तन, विकास तथा उनके निर्माण और निर्वाण को भी ध्यान में रख कर उन पर विचार करना चाहिये ।

३—'अतिभूतवादी की तरह द्वन्द्ववाद का यह सिद्धान्त नहीं है कि विकसित होने का अर्थ सीधे-सीधे बढ़ना है जब कि परिमाण में परिवर्तन होने से गुण में परिवर्तन नहीं होता । द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास क्रम में हम अदृश्य और अकिंचन परिमाण सम्बन्धी परिवतन से स्पष्ट और मौलिक गुण सम्बन्धी परिवर्तनों तक पहुंच जाते हैं । इस विकास क्रम में गुण संबंधी परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर हठात् एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक छलांग मार कर शीघ्रता से होते हैं । इसलिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार विकास क्रम का यह अर्थ नहीं है कि जो कुछ पहले हो चुका है अब वही सीधे-सीधे दोहराया जा रहा है, न कोल्हू के बैल की तरह एक ही जगह पर चक्कर खाने का नाम विकास है । विकास की गति ऊर्द्धोन्मुख और अग्रसर होती है । विकास साधारण से संश्लिष्ट, और निम्न से ऊर्द्ध्व की ओर होता है ।

४—'अतिभूतवाद के प्रतिकूल द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त है कि प्रकृति के सभी वाह्य रूपों और पदार्थों में आन्तरिक असंगतियां सहज रूप से विद्यमान हैं । इन पदार्थों और रूपों के भावपक्ष और अभावपक्ष दोनों हैं, उनका अतीत है तो अनागत भी, एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख है । इन दो विरोधी अंशों का संघर्ष—पुरातन और नवीन, मरणशील और विकासोन्मुख, निर्माण और निर्वाण का संघर्ष ही—विकासक्रम की आन्तरिक प्रक्रिया है ।'

द्वन्द्ववाद के सामान्य नियम

यह पहले ही कहा जा चुका है कि द्वन्द्ववादी धारणा के अनुसार समस्त जड़ और चेतन प्रकृति निरंतर विकास एवं परिवर्तन की अवस्था में है। "छोटी से छोटी वस्तु से लेकर बड़ी से बड़ी वस्तु तक, बालू के एक कण से लेकर सूर्य तक, छोटे से जीव कोष से लेकर मनुष्य तक, सम्पूर्ण प्रकृति सतत गतिमय और परिवर्तनशील है। उसकी स्थिति निर्माण और निर्वाण के अविराम प्रवाह में है।"[1] गतिशीलता प्रकृति का प्रधान गुण है। ऊपर से स्थिर जान पड़ती हुई वस्तुयें भी वास्तव में स्थिर नहीं हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो "विश्व वस्तुओं का समूह नहीं घटनाओं का समूह है अर्थात् जिसे हम वस्तु कहते हैं वह वस्तुतः परिवर्तनशील तरंग प्रवाह है।"[2] अतः द्वन्द्ववाद कहता है कि प्रकृति के घटना चक्र पर विचार करते समय हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु है भी और साथ ही नहीं भी है। जब प्रत्येक वस्तु तरंग-प्रवाह के रूप में प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करती जा रही है तब यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तु का अमुक रूप अथवा आकार प्रकार ही सत्य है। उसके सत्य स्वरूप को तो उसकी विकास की अवस्था में ही देखा जा सकता है।

उदाहरण के लिए हम किसी वृक्ष को लें। वृक्ष सामान्यतः मूल, तना, फल, फूल, पत्ते और शाखाओं का एक समूह मात्र है। उसका एक विशेष आकार भी दिखलाई देता है। हम उसका एक चित्र बना लेते हैं और कहते हैं कि यह अमुक वृक्ष का वास्तविक चित्र है। परन्तु जब हम द्वन्द्ववाद की सूक्ष्म कसौटी पर अपने कथन की परीक्षा करते हैं तो हमें अपनी भूल ज्ञात हो जाती है। वृक्ष तो विकास की अवस्था में है। प्रतिक्षण उसके फूल पत्तों से लेकर अंग-प्रत्यंग में असंख्य ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं जिन्हें

---

1. Marx Engels Selected Works (Introduction to Dialectics of Nature–Engels) Vol. II, Moscow, 1949, P. 65.

२. राहुल सांकृत्यायन–वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० २२।

हम मोटी दृष्टि से देख नहीं पाते। वृक्ष का निर्माण करने वाले कितने ही कोष प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं और कितने ही प्रतिक्षण नवीन उत्पन्न हो रहे हैं। इस प्रकार जितनी देर में हमने चित्र बनाया है उतनी देर में वृक्ष में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि हमारा चित्र वृक्ष का वास्तविक चित्र है। उसकी वास्तविकता तो उसकी गतिशीलता में है, उसके स्थिर चित्र में नहीं। किसी उड़ते हुए पक्षी या दौड़ती हुई रेलगाड़ी के बारे में हम यह कैसे कह सकते हैं कि उसकी स्थिति अमुक स्थान विशेष पर ही है। वास्तव में वह है भी और साथ ही नहीं भी है और इसी विरोध के संयोग में ही हम उसकी वास्तविक स्थिति का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

प्रकृति की इसी गतिमयता को ध्यान में रखते हुए ऐंगेल्स ने द्वन्द्ववाद की व्याख्या करते हुए अपनी पुस्तक **डयूहरिंग-मत-खण्डन** में लिखा है **"द्वन्द्ववाद प्रकृति, मानव समाज और विचारों के विकास एवं गतिशीलता से संबंधित सामान्य नियमों के विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"**[1] इसी बात का लुडविग फ्योरबाख सम्बन्धी अपनी पुस्तक में उन्होंने इस तरह उल्लेख किया है कि **"द्वन्द्ववाद, गतिशीलता के सामान्य नियमों का विज्ञान है जिसके अन्तर्गत वाह्य प्रकृति और मानव विचार दोनों ही आ जाते हैं।"**[2]

प्रकृति की गतिशीलता के महत्व को जान लेने के पश्चात् अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस गतिशीलता का रहस्य क्या है? प्रकृति में जो निरंतर विकास और परिवर्तन हो रहा है क्या वह विश्रृंखल और नियम विहीन है अथवा उसके पीछे कुछ निश्चित नियम कार्य कर रहे हैं। द्वन्द्ववाद के जन्मदाता हेगेल ने इस समस्या का बड़ा

---

1. "Dialectics is nothing more than the science of the general laws of motion and development of nature, human society and thought."

   F. Engels—'Anti-Duhring' P. 160.

2. 'Thus dialectics reduced itself to the science of the general laws of motion—both of the external world and of human thought ..'

   F. Engels—Ludwig Feuerbach and the outcome of Classical German Philosophy. P. 51.

ही विस्तृत और वैज्ञानिक विवेचन किया और यह सिद्ध किया कि प्रकृति का समस्त क्रिया व्यापार नियमों की शृखला में बंधा हुआ है। प्रकृति के विकासक्रम को समझने के लिए उसने निम्नलिखित तीन सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया :—

१—विरोधि समागम का नियम।
२—मात्रा भेद से गुण भेद का नियम।
३—प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम।

विरोधि समागम का नियम

यह नियम प्रकृति की गतिशीलता के रहस्य का उद्घाटन करता है। गति उसी समय उत्पन्न होती है जब दो विरोधी शक्तियों का मिलन और संघर्ष होता है। **"विरोधी जब मिलेंगे तो संघर्ष जरूर होगा और संघर्ष नये स्वरूप, नई गति, नई परिस्थिति अर्थात् विकास को जरूर पैदा करेगा।"**[1] इस प्रकार विरोधियों के संघर्ष का नाम ही गति अथवा विकास है।[2] संसार की प्रत्येक वस्तु निरंतर विकास की अवस्था में है। फलतः विरोधि समागम का नियम यह बतलाता है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु या घटना में परस्पर विरोधी शक्तियों या प्रवृत्तियों की संघर्षमयी एकता विद्यमान है और उनके अन्तर में निहित विरोधी शक्तियों का यह संघर्ष ही उनके विकास का मूल कारण है। यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन विरोधी प्रवृत्तियों में एकता भी है और विरोध भी है। एकता इसलिए कि इन विरोधी प्रवृत्तियों में इस

---

१. राहुल सांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० ४६।

2. 'Development is the struggle of opposites'.

Lenin—Marx Engels Marxism. P. 292.

प्रकार का अन्तर्व्यापन या अन्योन्य संबंध है कि उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। दोनों मूलतः एक ही वस्तु के दो छोर हैं। **"जो कर्जदार के लिए ऋण है वही महाजन के लिए पूंजी या धन है। जो पूर्व का रास्ता है वही पश्चिम का रास्ता भी है।"**[1]

सम्पूर्ण जड़ और चेतन प्रकृति की किसी भी वस्तु या घटना को लेकर उसकी परीक्षा करें तो उसके अंतर में निहित विरोधी प्रवृत्तियों का यह समागम हमें भली-भाँति स्पष्ट हो जायगा। हमारे शरीर में ही असंख्य जीव कोष नित्य उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। जन्म लेते ही यह प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है और इसके समाप्त होते ही जीवन भी समाप्त हो जाता है। अतः कोषों के इसी जन्म और मरण, वृद्धि और ह्रास की संघर्षमयी एकता में ही हमारी स्थिति है। **"जिसे हम जीवन कहते हैं वह वस्तुतः उस विरोध का नाम है जो प्रत्येक वस्तु के मूल में स्वतः स्थित है, जिसका निरंतर आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। इस विरोध के अवसान के साथ ही जीवन भी समाप्त हो जाता है।"**[2]

तेजी से घूमता हुआ गाड़ी का पहिया एक क्षण के लिये पृथ्वी को स्पर्श करता है और हट जाता है। उसकी स्थिति किसी स्थान विशेष पर है भी और साथ ही नहीं भी है। उसकी यह होने और न होने अथवा स्पर्श करने और हट जाने की विरोधी प्रक्रिया ही उसकी गति का कारण है। विरोध का अर्थ है साम्यावस्था का नाश। जितनी बार पहिया पृथ्वी को स्पर्श करता है साम्यावस्था स्थापित होती है और जितनी बार अलग हटता है साम्यावस्था का नाश होता है। दूसरे शब्दों में गतिशीलता की अवस्था में अखण्ड प्रवाह के समान साम्यावस्था निरंतर स्थापित होती और मिटती रहती है। प्रकृति के विकास का भी यही क्रम है। इसीलिये लेनिन ने विरोध को

---

1. Hegel—as quoted by David Guest in 'A Text Book of Dialectical Materialism. P. 26.

2. Life is therefore a contradiction which is present in things and processes themselves, and which constantly asserts and solves itself, and as soon as the contradiction ceases, life too comes to an end and death steps in.'

F. Engels-'Anti-Duhring.' p. 137.

द्वन्द्ववाद का क्षार[1] (सारतत्व) कहा है और यह भी कहा है कि "एक का विभाजन और उसके विरोधी तत्वों का ज्ञान ही द्वन्द्ववाद का सार है।"[2]

मात्राभेद से गुणभेद का नियम

जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि ससार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है तो यह भी सिद्ध हो जाता है कि संसार में किसी भी वस्तु का गुण स्थिर और स्थायी नहीं है। उसमें भी परिस्थितियों के अनुसार निरंतर विकास और परिवर्तन होता रहता है। एक वस्तु कुछ परिस्थितियों में हमारे लिये अच्छी और हितकारक है तो दूसरे समय वही हमारे लिये बुरी और घातक भी हो सकती है। 'कार्बन डिआक्साइड' थोड़ी मात्रा में हमारे जीवन के लिये बहुत आवश्यक है परन्तु अधिक मात्रा में यही हमारे लिये घातक भी है। इससे यह संकेत मिल जाता है कि मात्रा में भेद उत्पन्न होने पर गुण में भी भेद उत्पन्न हो जाता है। फलत: मात्रा भेद से गुण भेद का नियम यह स्पष्ट करता है कि विकास की अवस्था में वस्तुएं क्यों और कैसे नये नये आकार प्रकार और गुण आदि धारण करती रहती हैं।

इस नियम के अनुसार मात्रा और गुण एक दूसरे से असम्बद्ध और स्वतंत्र नहीं है। उनमें घनिष्ट आन्तरिक सम्बन्ध है।[3] यदि किसी वस्तु को लेकर उसका निर्माण

---

1. "The salt of dialectics"–Lenin as quoted by David Guest in 'A Text book of Dialectical Materialism.' P. 27

2. 'The division of one and the knowledge of its contradictory parts is the essence of dialectics'
'A Text Book of Dialectical Materialism.' P. 27

3. 'The quantity and quality of things are not independent of each other, in fact, they are both properties of the real world and are closely interconnected.'
Philosophy of Socialism–Introduction by Dr. Z.A. Ahmad. P.18.

करने वाले किसी पदार्थ की मात्रा को हम बराबर बढ़ाते चले जाँय तो एक सीमा ऐसी आयेगी जहाँ पर पहुंच कर उसमें गुणात्मक परिवर्तन उत्पन्न हो जायगा। **"उदाहरण के लिये आक्सीजन के अणु में दो परमाणु होते हैं; इन दो के बदले यदि तीन परमाणु कर दिये जांय तो ओज़ोन बन जाता है, जो गंध और प्रतिक्रिया में साधारण आक्सिजन से नितान्त भिन्न होता है। और जब आक्सिजन विभिन्न अनुपातों में नाइट्रोजन या गंधक से मिलाया जाता है तब तो उसका कहना ही क्या; हर अनुपात से ऐसा पदार्थ बनता है जो गुणात्मक दृष्टि से दूसरे पदार्थ से भिन्न होता है।"**[1] हेगेल द्वारा कथित पानी का प्रसिद्ध उदाहरण भी ले सकते हैं। यदि पानी को लेकर हम उसके तापमान की मात्रा को बढ़ाते चले जांय तो कुछ समय तक ऊपरी दृष्टि से पानी की स्थिति में हमें कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं देगा, परन्तु आगे चल कर एक अवस्था ऐसी आयेगी जब पानी एकाएक उबलने लगेगा। १०० सेंटीग्रेड पर पानी वाष्प का रूप धारण कर लेगा, जो आकार प्रकार और गुण में सामान्य जल से नितान्त भिन्न होगा। इसी प्रकार यदि हम पानी के तापमान को घटाना आरम्भ करें तो कुछ समय तक तो हमें पानी की ऊपरी स्थिति में कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं देगा, परन्तु ज़ीरो सेंटीग्रेड पर आते ही पानी जमने लगेगा। वह अपनी तरलता को छोड़ कर ठोस हिम का रूप धारण कर लेगा, जो गुणात्मक दृष्टि से अपने पूर्व रूप से नितान्त भिन्न होगा। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि मात्रा और गुण स्वतंत्र नहीं हैं। भौतिक तत्वों की व्याख्या करने वाला सम्पूर्ण रसायन शास्त्र वास्तव में मात्रा भेद पर आधारित गुण भेद का विज्ञानमात्र ही है, क्योंकि **"पदार्थों की अणुवद्ध रचना में परिवर्तन होने से गुणात्मक परिवर्तन संभव होते हैं, इन गुणात्मक परिवर्तनों के विज्ञान को हम रसायन शास्त्र कहते हैं।"**[2]

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मात्राभेद के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली गुणात्मक परिवर्तन की अवस्था धीरे धीरे न आकर एकाएक घटित होती है। राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुंचने की गति सर्प के समान न होकर, मेंढ़क के समान होती है।[3] सांप एक स्थान से दूसरे

---

१. ऐंगेल्स—'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' (हिन्दी संस्करण) बम्बई—१९४४, में उद्धृत, पृ० ११८।

२. वही, पृ० ११८।

३. राहुल सांकृत्यायन—'वैज्ञानिक भौतिकवाद,' पृ० २६।

स्थान को रेंग कर बीच के सब स्थानों को छूता हुआ जाता है परन्तु मेंढक एक स्थान से दूसरे स्थान पर एकाएक कूद कर पहुंच जाता है। गुणात्मक परिवर्तन की गति भी ऐसी ही है। इसी लिये उन्होंने प्रकृति के घटना प्रवाह को विच्छेदयुक्त प्रवाह[1] कहा है। बर्फ बनते समय पानी धीरे धीरे गाढ़ा नही होता है। तापमान के ० सेंटीग्रेड पर आते ही एकाएक जमने लगता है। गुणात्मक परिवर्तन के इसी नियम के आधार पर मार्क्सवादी, सुधारवाद को अस्वाभाविक मानते हैं और सामाजिक क्रान्ति का समर्थन करते हैं। किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत शोषित वर्ग में पहले तो असंतोष की मात्रा धीरे धीरे बढ़ती रहती है फिर एक ऐसी अवस्था आती है जब एकाएक क्रान्ति का विस्फोट होता है और उसके फलस्वरूप पुरानी व्यवस्था समाप्त होकर नई व्यवस्था आ जाती है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में **"जिस प्रकार बच्चा मां के गर्भ में बढ़ता है किंतु लगभग नौ मास के उपरान्त एक दिन वह अचानक माता को कड़ी प्रसव वेदना देते हुये बाहर निकल पड़ता है, उसी प्रकार पुराने समाज के भीतर नये समाज की अवस्थायें जब परिपक्व हो जाती हैं तो अचानक क्रांति के द्वारा नये समाज का जन्म होता है। क्रान्ति नये समाज की प्रसव वेदना है। एक समाज से नये उन्नत समाज की ओर जाने के लिये क्रान्ति एक अनिवार्य सीढ़ी है।"**[2]

प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम

विरोधि सभागम के नियम की व्याख्या करते हुये यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक भौतिक तत्व के अंतर में आंतरिक असंगतियां विद्यमान है। यह विरोधी शक्तियां अथवा असंगतियां स्थिर अथवा अगतिशील अवस्था में नहीं हैं। उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है और उनकी इस संघर्षमयी एकता में ही प्रत्येक वस्तु की स्थिति है। विरोधी शक्तियों का यह संघर्ष या अन्तर्व्यापन ही विकास का मूल कारण है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन—'वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० २६।

२. आचार्य नरेन्द्र देव—'समाजवाद—लक्ष्य और साधन', पृ० ५५।

संघर्ष की दशा में एक शक्ति दूसरी का प्रतिषेध करती है जिसके फलस्वरूप एक नई अवस्था उत्पन्न हो जाती है। फिर इस नई अवस्था में नये ढंग से विरोधियों का संघर्ष आरम्भ होता है, फिर प्रतिषेध की दशा आती है और फिर एक नई अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपना प्रतिषेध करता हुई विकास के सोपान पर आगे बढ़ती है। जिस प्रकार रस्सा खींचते समय दो विपरीत दिशाओं से जोर लगाया जाता है और जब तक दोनों ओर की शक्ति समान रहती है तब तक रस्सा अपने स्थान पर रुका रहता है, पर यह साम्यावस्था अधिक समय तक नहीं ठहरती। थोड़ी देर के बाद एक पक्ष की सांस उखड़ने लगती है और प्रबल पक्ष निर्बल पक्ष को अपने स्थान से हटा देता है। इसी प्रकार विरोधी शक्तियों के खिचाव के फलस्वरूप कुछ काल के लिये साम्यावस्थ आती है, फिर प्रतिषेध की दशा आती है जो साम्यावस्था का नाश करके एक नई अवस्था को जन्म देती है। प्रत्येक साम्यावस्था असंगतियों के रूप में अपने ही गर्भ में अपने विनाश के बीज लेकर आती है, जिसके फलस्वरूप प्रगति और परिवर्तन का यह क्रम अबाधगति से चलता रहता है। सामाजिक व्यवस्थायें भी इस नियम का अपवाद नहीं हैं। उनके गर्भ में भी प्रचलित व्यवस्था को नाश करने वाली असंगतियां जन्म पाकर धीरे धीरे बढ़ती रहती हैं और जब समाज इन असंगतियों के बोझ को सभालने में असमर्थ हो जाता है तो आन्दोलन और क्रान्ति की एक लहर उठती है और प्रचलित सामाजिक व्यवस्था अपना प्रतिषेध करके दूसरी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है।

आंतरिक असंगतियों का संघर्ष ही प्रत्येक वस्तु की वृद्धि और विकास का मूल कारण है। इसका तात्पर्य यह है कि असंगतियों के संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली प्रतिषेध की अवस्था अथवा **प्रतिषेध के प्रतिषेध** का नियम[1] अपने मूल रूप में निषेधात्मक न होकर निर्माणात्मक है। यदि एक वस्तु का निषेध होता है तो साथ ही दूसरी वस्तु का निर्माण भी होता है। प्रतिषेध की प्रत्येक प्रक्रिया के साथ नवनिर्माण की भावना अनिवार्य रूप से संलग्न है।[2]

---

1. The law of the Negation of the Negation.

2. 'Nothing grows or develops without the impulse or the motive force provided by the clash of opposing elements, which condition and simplify each other. Thus the Negation of the Negation has fundamentally a positive character.'

Philosophy of socialism—Introduction by Dr. Z. A. Ahmad. page 19.

प्रतिषेध से हमारा तात्पर्य विनष्ट-विलीन वस्तु की स्थानापन्न वस्तु से है। यदि किसी वस्तु की स्थिति को हम पहली अवस्था कहें तो उस वस्तु के विनष्ट हो जाने से जो नई वस्तु या स्थिति उत्पन्न होगी, उसे हम प्रतिषेध की अवस्था कहेंगे, फिर इस वस्तु के भी विनष्ट और विलीन हो जाने से जो नवीन वस्तु या स्थिति उत्पन्न होगी, उस तीसरी अवस्था को हम **'प्रतिषेध का प्रतिषेध'** कहेंगे। इस प्रकार "द्वन्द्ववाद के **ध्वंस-रचना कार्य की तीसरी सीढ़ी प्रतिषेध है।"**[1] सम्पूर्ण प्रकृति के वस्तु-व्यापार के विकास की गति के संबंध में प्रतिषेध के प्रतिषेध का नियम यह बतलाता है कि पहली अवस्था की तुलना में तीसरी अवस्था सदा समुन्नत और उच्च-स्तर की होती है। तीसरी अर्थात् प्रतिषेध के प्रतिषेध की अवस्था में पहली अवस्था की कतिपय मूल विशेषतायें सदा विद्यमान रहती हैं पर उनका स्तर ऊंचा उठ जाता है। दूसरे शब्दों में **प्रतिषेध का प्रतिषेध मूल अवस्था को ही उच्च स्तर पर** पुनर्स्थापित करता हुआ **चलता है।**[2] यह विकास क्रम कोल्हू के बैल की तरह वृत्ताकार न होकर चक्करदार सीढ़ी की तरह कहा जा सकता है। कोल्हू का बैल तो एक ही घेरे में यन्त्रवत् घूमता रहता है। जहाँ से चलता है चक्कर पूरा करके फिर उसी स्थान पर आ जाता है परन्तु चक्करदार सीढ़ी पर चढ़ने वाला व्यक्ति चक्कर पूरा होने पर भी अपने पूर्व स्थान पर लौट कर नहीं आता। वह निरंतर ऊंचा उठता जाता है। यही गति प्रतिषेध के प्रतिषेध द्वारा घटित होने वाले प्रकृति के विकास क्रम की भी है।

ऐंगेल्स ने अपनी पुस्तक **ड्यूहरिंग-मत-खण्डन** में उपर्युक्त विषय का विवेचन करते हुए जौं के दाने का उदाहरण दिया है।[3] हम जौं का एक दाना लेकर जमीन में बो देते हैं। कुछ समय के बाद अनुकूल परिस्थितियों में पानी और धूप के प्रभाव से बीज की दशा में परिवर्तन उपस्थित होता है। बीज स्वयं विनष्ट हो जाता है और उसके

---

१. राहुल सांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० ७३।

2. "That development takes place in a kind of spiral. one change negating a given state of affairs and a succeeding change, which negated the first, re-establishing (in a more developed form or 'on a higher plane' as it is often expressed) some essential feature of the original state of affairs.'

A Text Book of Dialectical Materialism—David Guest, 28.

3. F. Engels : 'Anti – Duhring', P. 154.

स्थान पर एक पौधा निकल आता है। इसे हम प्रतिषेध की अवस्था कहते है। धीरे-धीरे यह पौदा भी बढ़कर पूर्णता को प्राप्त करता है। दानों के पक जाने पर पौदा सूखकर समाप्त हो जाता है। इसे हम प्रतिषेध की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में आकर हम जौं का दाना पुनः प्राप्त कर लेते हैं परन्तु दानों की संख्या पहली अवस्था की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ जाती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि प्रतिषेध के प्रतिषेध की अवस्था पहली अवस्था की तुलना में सदा उच्च स्तर पर ही घटित होती है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए ऐंगेलस ने समाज के क्षेत्र से भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[1] आरम्भिक काल में सभ्यता की ओर अग्रसर होते हुए मानव समुदाय में भूमि सामूहिक संपत्ति के रूप में थी। धीरे-धीरे कृषि के विकास और विस्तार के साथ-साथ एक अवस्था ऐसी आई कि भूमि का सामूहिक स्वामित्व उत्पादन के कार्य में बाधक सिद्ध होने लगा। असंतोष की मात्रा बढ़ी और धीरे-धीरे सामूहिक सम्पत्ति की प्रथा का अंत हो गया; उसका स्थान भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व ने ले लिया। इसे हम सामूहिक स्वामित्व के प्रतिषेध की अवस्था कहेंगे। भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व ने उत्पादन को एक नई गति प्रदान की। वैज्ञानिक आविष्कारों ने कृषि-कला के स्तर को बहुत ऊँचा उठाया। परन्तु विकास की एक सीमा पर पहुँचकर भूमि का यह व्यक्तिगत स्वामित्व भी अपनी आन्तरिक असंगतियों से जर्जरित होकर अगतिशील हो गया और उत्पादन के मार्ग में बाधक सिद्ध होने लगा। फलतः वर्तमान युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध आन्दोलन होने लगे और भूमि को सामाजिक सम्पत्ति बनाने की मांग की जाने लगी। इसे हम प्रतिषेध के प्रतिषेध की अवस्था कहेंगे। यह अवस्था आदिम युग की सामूहिक स्वामित्व की अवस्था का पुनरावर्तन मात्र न होकर उसकी तुलना में, वैज्ञानिक विकास और व्यापक सामाजिक चेतना के फलस्वरूप, कहीं अधिक उच्चस्तर की होगी।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना भी उचित होगा कि प्रत्येक वस्तु के विनष्ट और विलीन हो जाने पर भी प्रत्येक स्थिति में प्रतिषेध के भी प्रतिषेध का उपस्थित होना अनिवार्य नहीं है। जब एक वस्तु विनष्ट होते हुए दूसरी अवस्था के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करती है तभी प्रतिषेध का प्रतिषेध उपस्थित होता है अन्यथा क्रम टूट जाता है और विकास की धारा दूसरी ओर मुड़ जाती है। उदाहरण के लिए यदि हम जौ के दाने को जमीन में न बोकर पीस डालें और आंटा बनाकर भोजन के काम में

---

1. F. Engels : Anti – Duhring, P. 156.

लायें तो प्रतिषेध की क्रिया का पहला भाग तो सम्पन्न होगा परन्तु दूसरा असंभव हो जाएगा। दाने के विनष्ट और विलीन हो जाने पर भी प्रतिषेध के प्रतिषेध की अवस्था उपस्थित नहीं होगी। अत: "**द्वन्द्ववादी मान्यता के अनुसार निषेध का आशय केवल यही नहीं है कि हम किसी वस्तु को मनमाने ढंग से मिटा दें या उसके अस्तित्व की घोषणा मात्र कर दें। हमें प्रतिषेध के प्रथम भाग को इस प्रकार सम्पन्न करना चाहिए कि द्वितीय अवस्था भी संभव हो सके।**"[1] हमें सदा इस क्रम को ध्यान में रखना चाहिए कि विरोधि समागम होने पर ही संघर्ष द्वारा गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित होता है और गुणात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप ही प्रतिषेध का प्रतिषेध होता है।

मार्क्स द्वारा द्वन्द्वात्मक पद्धति का उपयोग

द्वन्द्ववाद के जिन सामान्य नियमों की ऊपर व्याख्या की गई है, उनके मूल-प्रवर्तक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगेल (१७७०–१८३१) थे। हेगेल द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों ने मार्क्स को बहुत प्रभावित किया परन्तु मार्क्स स्वभाव से ही एक स्वतंत्र विचारक था अत: उसने हेगेल के सम्पूर्ण विचारवाद को ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया। दोनों के जीव और जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण एक दूसरे से नितान्त विपरीत थे। मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद को स्वीकार करते हुए भी उसकी आदर्शवादी मान्यताओं को अनुपयोगी समझकर उनका परित्याग कर दिया। स्तालिन के शब्दों में "**वास्तव में मार्क्स और एंगेल्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद से उसके आदर्शवादी परिवेष्ठन को दूर करके**

---

1. 'Negation in dialectics does not mean simply saying no, or declaring that something does not exist or destroying it in any way one likes.............I must therefore so construct the first negation that the second remains or becomes possible."

F. Engels : Anti – Duhring, P. 160.

बुद्धिसंगत सारतत्व को ग्रहण कर लिया और आगे उसका इस ढंग से विकास किया कि उसे एक आधुनिक वैज्ञानिक रूप प्राप्त हो सके।"[1]

इस बात का श्रेय वास्तव में हेगेल को ही है कि दर्शन के क्षेत्र में उसने द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति के रूप में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुसंधान किया। जिसके फलस्वरूप मार्क्स को एक ऐसा सूत्र मिल गया जिसके सहारे वह सामाजिक जीवन के विकासक्रम के अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन करने में सफल हो सका। यह निर्विवाद है कि द्वन्द्वात्मक विचार पद्धति का आश्रय लिये बिना सामाजिक जीवन के अनेक तथ्यों का प्रकाश में लाना मार्क्स के लिये असंभव था। अतः हम कह सकते हैं कि हेगेल का द्वन्द्ववाद मार्क्स के लिये एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ के समान सिद्ध हुआ जिसके प्रखर आलोक में वह सामाजिक जीवन के प्रत्येक रहस्य एवं गतिविधि से परिचित होकर उन सिद्धान्तों का निरुपण करने में समर्थ हो सका जिन पर आधुनिक समाजवाद की आधार शिला स्थापित की गई है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेगेल और मार्क्स के जीव और जगत संबंधी विचारों में बहुत अंतर था। हेगेल आत्मवादी था और विश्वात्मा के अस्तित्व में विश्वास रखता था। उसकी धारणा थी कि प्रकृति अथवा समाज की प्रत्येक वस्तु का विकास द्वन्द्वात्मक ढंग से इसीलिए होता है कि यह विश्वात्मा अथवा **विश्व-मानस**[2] स्वयं द्वन्द्वात्मक है क्योंकि उसकी सत्ता का निर्माण ही साकार और निराकार अथवा वाद और प्रतिवाद रूपी संघर्षमयी विरोधी प्रवृत्तियों की एकता से हुआ है। फलतः विश्वात्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली संसार की प्रत्येक वस्तु या घटना का विकास द्वन्द्वात्मक विधि से होना अवश्यम्भावी है। यह विश्वात्मा अथवा हेगल के शब्दों में **'परम-मनः-तत्व'**[3] ही समग्र ब्रह्माण्ड की एकता का विधायक है। सम्पूर्ण दृश्यमान

---

1. 'As a matter of fact Marx and Engels took from the Hegelian dialectics only its 'rational kernel' casting aside its idealistic shell, and developed it further so as to lend it a modern scientific form.'

   J. Stalin – Problems of Leninism, P. 569.

2. 'World Idea.'

3. 'Absolute Idea.

जगत या भौतिक विस्तार इसी सर्व व्यापक **परम-मनः-तत्व** की प्रतिध्वनि अथवा छाया मात्र है। इस प्रकार हेगेल की मान्यता के अनुसार मनः तत्व तो मूल कारण है और दृश्यमान जगत उसका परिणाम।

मार्क्स एक स्वतंत्र विचारक था। उसकी आस्था भौतिकवाद में थी। अतः उसने हेगेल द्वारा प्रतिपादित सर्वव्यापी 'परम-मनः-तत्व' की सता को स्वीकार नहीं किया। उसने हेगेल के द्वन्द्ववाद को लेकर और उसे पलट कर दूसरे छोर से चलना आरंभ किया। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि भौतिक तत्व ही कारण स्वरूपा मूल सत्ता है और मनःतत्व उसका परिणाम। भौतिक जगत यदि बिम्ब है तो मनः-जगत उसका प्रतिबिम्ब। भौतिक जगत यदि ध्वनि है तो मनः-जगत उसी की प्रति-ध्वनि। हमारे अंदर विचारों की द्वन्द्वात्मक स्थिति इसी लिये है कि बाह्य संसार द्वन्द्वात्मक विधि से विकसित होता है। हमारे समस्त विचार विश्वास और धारणायें बाह्य जगत के ही प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिध्वनि मात्र हैं। **बाह्य प्रकृति का समस्त विस्तार हमारी मनः प्रक्रिया का परिणाम नहीं है वरन् इसके विपरीत हमारे विचार स्वय हमारे आस पास की प्रकृति एवं परिस्थतियों के परिणाम हैं।**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स की जगत संबंधी धारणायें हेगेल से भिन्न ही नही नितान्त विपरीत हैं। हेगेल ने जहां द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों का प्रति-पादन करके उसके द्वारा 'परम मनः तत्व' के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वहां मार्क्स ने द्वन्द्ववाद का उपयोग भौतिकवाद के समर्थन के लिये किया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **कैंपिटल** के प्रथम खण्ड में मार्क्स ने इसी विषय की विवेचना करते हुये स्वयं लिखा है:—

"मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हेगेल से मूलतः भिन्न ही नहीं वरन् उससे नितान्त विरोधी दिशा में है। हेगेल के अनुसार वास्तविक जगत का निर्माण चिन्तन क्रिया की प्रेरक शक्ति से हुआ है, विचार क्रिया को विचार तत्व का नाम देकर वह उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह कहता है कि यह 'विचार तत्व' ही वास्तविक जगत का निर्माण करता है। हेगेल के लिये वस्तु जगत विचार तत्व का ही बाह्य घटनात्मक स्वरूप है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि से विचार मानव चित्त में प्रतिबिम्बित भौतिक संसार को छोड़कर और कुछ नहीं है, चिन्तन क्रिया में भौतिक संसार का ही वह रूपान्तर है।"[1]

---

१. कार्ल मार्क्स—'कैपिटल', खण्ड १—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास (हिन्दी संस्करण) में उद्धृत, पृ० ११५।

भौतिकवाद और आत्मवाद

भौतिकवाद की मार्क्सवादी व्याख्या करने से पहले यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि भौतिकवाद के नाम से जन साधारण में ऐसी अनेक धारणायें प्रचलित हैं जिनका मार्क्स के भौतिकवाद से कोई संबंध नही है। कुछ लोगों का विश्वास है कि भौतिकवाद मूलत: एक भोगवादी सिद्धान्त है और अबाध ऐन्द्रिय सुख ही उसका चरम लक्ष्य है। अत: वे 'यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' आदि उक्तियों से उसका सहज संबंध स्थापित करके इसी दृष्टि से उसे देखते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि भौतिकवाद एक ऐसी विचार धारा है जो जीवन के उच्चस्तर अथवा चैतन्य सत्ता की उपेक्षा करके निर्जीव भौतिक तत्व को ही सम्पूर्ण घटनात्मक जगत का मूल मानती है। वास्तव में मार्क्स ने इन दोनो में से किसी भी अर्थ में भौतिकवाद का प्रयोग नही किया है।

जब से दर्शनशास्त्र का जन्म हुआ और मनुष्य ने अपने अस्तित्व पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना आरम्भ किया तभी से उसके मन को उलझाने वाली एक समस्या यह भी उत्पन्न हुई कि शरीर और आत्मा का संबंध क्या है ? वह तत्व जिससे शरीर का निर्माण हुआ है और शरीर के माध्यम से व्यक्त होने वाली आत्मचेतना अथवा मन:शक्ति का पारस्परिक संबंध क्या है ? कौन कारण है और कौन कार्य ? कौन प्रधान है और कौन अप्रधान ? एक मृत प्राणी का शरीर वैसे तो जीवित प्राणी के सदृश ही दिखलाई देता है परन्तु मृत्यु के पश्चात् वह संज्ञा शून्य और गतिहीन हो जाता है। क्या आत्मा के प्रवेश से शरीर में चेतना उत्पन्न होती है और उसके विच्छेद के साथ ही समाप्त हो जाती है ? क्या आत्मा का अस्तित्व शरीर से अलग और स्वतंत्र है ? आत्मतत्व और भौतिकतत्व के सम्पर्क का क्या कारण है और दोनों में कौन अधिक शक्तिशाली है ? इन प्रश्नों को को लेकर दार्शनिकों में बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया और वे दो विरोधी वर्गों में बट गये। कुछ विचारकों ने आत्मतत्व को प्रधान मानकर उसी के आधार पर अपने अपने ढंग से इन प्रश्नों का उत्तर दिया तो कुछ विचारकों ने भौतिकतत्व की प्रधानता स्वीकार करते हुये अपने अपने ढंग से इन प्रश्नों

का समाधान प्रस्तुत किया। ऐंगेल्स के शब्दों में इसी बात को संक्षेप में हम इस तरह कह सकते हैं कि **"सत्ता और विचार अथवा आत्मा और प्रकृति के संबंध का प्रश्न ही समस्त दर्शन का मूल प्रश्न है।.... इस प्रश्न के जो उत्तर दार्शनिकों ने दिये उसके आधार पर वे दो श्रेणियों में बंट गये। जो प्रकृति की अपेक्षा आत्मा को मूल स्वीकार करते हैं .... वे आत्मवादी श्रेणी में हैं। इनसे भिन्न जो प्रकृति को मूल मानते हैं वे भौतिक-वाद की विभिन्न शाखाओं प्रशाखाओं के अन्तर्गत आ जाते हैं।"**[1]

आत्मवादी और भौतिकवादी दार्शनिक संसार को दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते आये हैं। आत्मवादी दार्शनिक भौतिक जगत से परे किसी अखण्ड आत्म तत्व की सत्ता में विश्वास रखते हैं। उनकी धारणा के अनुसार यह परम तत्व ही एक मात्र सत्य एवं शाश्वत शक्ति है, तथा सम्पूर्ण भौतिक विस्तार मिथ्या माया अथवा उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है। उदाहरण के लिये एक वृक्ष है जिसे हम भली भांति देख रहे हैं। सामान्य दृष्टि से हमें उसके अस्तित्व में किसी प्रकार का संदेह नहीं है, परन्तु जब एक आत्मवादी दार्शनिक के रूप से हम विचार करने बैठते हैं तो हम शंका कर सकते हैं कि वृक्ष के अस्तित्व का प्रमाण क्या है? हम कैसे विश्वास करें कि हमारी सत्ता से अलग किसी वाह्य जगत का अस्तित्व भी है? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि हम वृक्ष को देख सकते हैं; उसके तने का स्पर्श करके उसकी कठोरता का अनुभव कर सकते हैं; उस पर कलरव करते हुये पक्षियों का मधुर सगीत सुन सकते हैं; उसके फूलों की सुगन्ध ग्रहण कर सकते हैं तथा उसके फलों का स्वाद ले सकते हैं। अतः हमारा इन्द्रियजन्य ज्ञान ही वृक्ष के अस्तित्व का सब से बड़ा प्रमाण है। तब हम फिर शंका करते हैं कि क्या हमारा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान वास्तविकता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त कहा जा सकता है? इन्द्रियों की सत्ता तो हमारे अहम् के अन्तर्गत ही है अथवा वे तो हमारे अहम् का ही एक अंग हैं। ऐसी दशा में इन्द्रियों के द्वारा हम जो संवेदनायें ग्रहण करते हैं अथवा जो मनःचित्र प्राप्त करते हैं क्या वह स्वयं हमारे अहम् का ही क्रिया व्यापार नही है? हमारी सम्पूर्ण वाह्य जगत संबंधी धारणा का मूलाधार स्वयं वाह्य जगत न होकर हमारा मनः जगत ही तो है। अहम् अथवा मनः जगत के अभाव में भौतिक जगत की कल्पना नितान्त असम्भव है। भौतिक जगत संबंधी हमारी सम्पूर्ण धारणा हम से अलग अस्तित्व रखने वाली किसी स्वतंत्र वस्तु

---

1. F. Engels—'Ludwig Feuerbach and the outcome of classical German Philosophy', PP. 25-26.

का परिणाम न होकर स्वयं हमारे अहम् का ही परिणाम है। 'हम' और 'तुम' का भेद भी निराधार है। केवल एक ब्रह्माण्ड व्यापी 'अहम्; अथवा "परम-मनः तत्व"[1] है और सम्पूर्ण भौतिक विस्तार उसी की छाया, प्रतिध्वनि अथवा मनःचित्र मात्र है। इसी प्रकार की तर्क पद्धति के आधार पर हेगेल आदि अनेक आत्मवादी एक सर्वव्यापी चिरन्तन, परम-मनः-तत्व की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं और समस्त दृश्यमान भौतिक प्रसार को उसी के अन्तर्गत प्रतिफलित होने वाली प्रतिध्वनि अथवा छाया मात्र मानते हैं।

भौतिकवादी विचारकों का दृष्टिकोण इससे ठीक विपरीत है। वे दृश्यमान भौतिक जगत से परे किसी आत्म तत्व की सत्ता मे विश्वास नहीं करते। यदि भौतिक-वादी दृष्टिकोण से वृक्ष की उपर्युक्त स्थिति पर विचार किया जाय तो हम कहेंगे कि वृक्ष की सत्ता वास्तविक है अन्यथा हमारी इन्द्रियां हमें उसका बोध कराने में समर्थ कैसे होतीं। यदि वृक्ष न होता तो हमें उसकी जगह कुछ भी दिखलाई न देता। यदि पक्षी कलरव न करते तो हमें कुछ सुनाई भी न देता। अतः वाह्य जगत की स्थिति सत्य है और हमारे समस्त मनःचित्र अथवा विचार और चेतना उसी की प्रतिक्रिया का परिणाम मात्र है। यदि भौतिक जगत के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय तो समस्त इन्द्रियजन्य ज्ञान का आधार ही समाप्त हो जायगा और हमारा मन इन्द्रियों द्वारा किसी भी प्रकार की संवेदनायें ग्रहण करने में असमर्थ होगा। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण मनः जगत निष्क्रिय और शून्यवत् भासित होगा। अतः भौतिक जगतकी सत्ता ही एक मात्र सत्य है और हमारा समस्त मनः व्यापार उसी के क्रिया कलाप का परिणाम अथवा प्रतिक्रिया मात्र है।

भौतिकवादी दार्शनिक एक ऐसी वस्तु सत्ता में विश्वास करता है जो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पूर्णतः अनुभवगम्य है। उसकी धारणा के अनुसार वस्तु जगत नित्य है। वह किसी अलौकिक शक्ति की इच्छा से निर्मित हुई रचना नहीं है। मनुष्य की सत्ता को वह प्रकृति से अलग करके नहीं देखता वरन् उसी का एक अंश मात्र समझता है। मनुष्य का समस्त मनःव्यापार तथा उसके अहम् का निर्माण करने वाली उसकी चेतना, जिसे हम आत्मा कहते हैं, भौतिक तत्व से स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली कोई वस्तु नहीं है। वह भौतिक शरीर के साथ ही उत्पन्न होती है और भौतिक तत्व की ही एक अभिव्यक्ति विशेष है। हमारी चेतना का निर्माण करने वाला विचारजगत मस्तिष्क से

---

1. Adsolute Idea.

अलग नहीं किया जा सकता। **मस्तिष्क स्वयं भौतिकतत्व के विकास की ही एक उच्चतर अवस्था मात्र है। भौतिकतत्व मस्तिष्क की उपज न होकर स्वयं मस्तिष्क ही भौतिकतत्व की उपज है।**

भौतिकवादी दर्शन का आरम्भ

भौतिकवादी विचारधारा वर्तमान वैज्ञानिक युग की उपज नहीं है। वह आत्मवादी दर्शन के समानान्तर बहुत प्राचीन काल से ही चलती आ रही है। यूनान देश योरोप में प्राचीन सभ्यता का केन्द्र रहा है और वहीं से योरोपीय दर्शन का भी सूत्रपात हुआ है। यूनान के प्राचीनतम दार्शनिक भौतिक वादी धारणा के ही पोषक थे, अतः हम कह सकते हैं कि योरोप में दर्शन शास्त्र का उद्भव और विकास भौतिकवाद के माध्यम से ही हुआ है।

यूनान के इतिहास में दार्शनिकों का **माइलेशियन**[1] सम्प्रदाय सब से प्राचीन माना जाता है। यह माइलेशियन दार्शनिक मूलतः भौतिकवादी थे और सृष्टि के मूलतत्व की व्याख्या भौतिक धारणा के अनुसार ही करते थे। **थालेस**[2] का विश्वास था कि

---

१. Milesian. प्राचीन यूनान के 'माइलेटस' (Miletus) नगर से संबंधित होने के कारण दार्शनिकों का यह वर्ग 'माइलेशियन' कहा जाता है।

२. Thales (640–549 B. C.)

'......the first so far as is known, to suggest a scientific as opposed to a mythological explanation of the univers. As a natural Philosopher be held that water was the all pervading principle of the universe, that all material substances were variants of water and the univers is a living creature.'

Concise Universal Biography. Vol. III, P. 1248.

सृष्टि का मूलतत्व जल है। थालेस के शिष्य **अनक्षिमन्दर**[1] का कहना था कि समस्त जीव जन्तुओं की उत्पत्ति सागर से हुई है। मनुष्य भी मछलियों से ही धीरे धीरे विकसित हुआ है। आगे चलकर यूनानी दर्शन की धारा आत्मवाद की ओर मुड़ गई परन्तु फिर भी भौतिकवादियों की इस परम्परा का पूरी तरह लोप नहीं हो सका। समय समय पर **ल्यूसिपस**[2] और **देमोक्राइतस**[3] जैसे महान भौतिकवादी विचारक भी उत्पन्न होते रहे जिन्होंने महर्षि कणाद की तरह योरोप में सर्व प्रथम सृष्टि की परमाणुवादी व्याख्या की।

योरोप ही नही भारतवर्ष में भी प्रचीन काल में **चार्वाक** जैसे भौतिकवादी दार्शनिक विद्यमान थे जो दृश्यमान भौतिक जगत से परे किसी अलौकिक सत्ता में विश्वास नहीं रखते थे। चार्वाक के मतानुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु यह चार ही तत्व हैं। इन्हीं के संयोग से शरीर का निर्माण होता है। जिस प्रकार मादक द्रव्यों के समुदाय से मद शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार देह रूप में परिणत होने पर इन्हीं

---

1. Anaximander (610–547 B. C.)
   'Living creature arose from moisture evaporating in the sun, Man was supposed by Anaximander to have sprung from some other species of animals probably aquatic.'
   Encyclopedia Britannica. Vol. 1, P. 886.

2. Lencippus (6th century B. C.)
   'He was the founder of the Atomic theory, which was afterwords developed by Democritus.'
   Concise Universal Biography Vol. III P. 901.

3. Democritus (460–357 B. C.)
   'The atoms conceived by Democritus differed in size, weight, shape, position and arrangement, Falling together by force of gravity, inspinging one upon another, and flying off in various directions as a result of impact, these atoms produced a rotary movement or Vortex. Gradually all atoms found their proper combinations and thus the universe was formed, the result of a "fortuitous concourse of atoms."
   Concise Universal Biography Vol. I P. 496.

तत्वों से चैतन्य की भी उत्पत्ति होती है और शरीर के नष्ट होने पर आत्मा स्वयं नष्ट हो जाती है।'[1] भौतिकवादी दर्शन के आचार्यों में चार्वाक के साथ बृहस्पति का नाम भी लिया जाता है जिनके अनुसार न तो स्वर्ग है, न अपवर्ग है, न परलोक में जाने वाली आत्मा है। वर्णाश्रमादि के कर्म भी फलदायक नहीं हैं। अग्निहोत्र, तीनों वेद इत्यादि बुद्धि और पौरुष से हीन व्यक्तियों की जीविका के साधन मात्र हैं। यदि यज्ञ में मारा हुआ पशु स्वर्ग जाता है तो यजमान अपने पिता को क्यों नही मारता, इत्यादि।[2]

गौतम बुद्ध के समकालीन अथवा उनसे कुछ पहले उत्पन्न होने वाले **अजित केश कम्बल** नामक भौतिकवादी दार्शनिक का भी उल्लेख प्राप्त होता है। त्रिपिटक में दिये हुए उनके विचारों के अनुसार "आदमी चार महा भूतों का बना है। जब मरता है पृथ्वी-पृथ्वी में, पानी पानी में, आग आग में, वायु वायु में मिल जाते हैं।.... मूर्ख हो चाहे पण्डित शरीर छोड़ने पर (सभी) उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं, मरने के बाद (कुछ) नहीं रहता।"[3]

कपिल के सांख्य दर्शन में हमें आत्मवाद और भौतिक वाद के समन्वय की एक विराट चेष्टा दिखलाई देती है। कपिल के अनुसार प्रकृति नित्य है तथा जगत की समस्त वस्तुएं उसी के विकार है। ब्रह्म को उन्होंने अपने दर्शन में स्थान नहीं दिया है परन्तु प्रकृति के साथ साथ वे असंख्य जीवों अथवा चेतन पुरुषों को भी एक स्वतंत्र तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार "सांख्य दर्शन चेतन और

---

१. 'तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्वानि तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मद-शक्तिवत् चैतन्य मुपजायते तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति।'
सर्वदर्शन संग्रह—चार्वाक् दर्शनम्, १/६।

२. न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रि दण्डं भस्मगुण्डनम्।
बुद्धि पौरुष हीनानां जीविका धातृनिर्म्मिता॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्ग ज्योतिष्ठो में गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तन्न कस्मान्न हिस्यंते॥
सर्व-दर्शन-संग्रह—चार्वाक दर्शनम् १/२२

३. राहुल सांकृत्यायन द्वारा—दर्शन दिग्दर्शन (प्रथम संस्करण) में उद्धृत, पृ० ४८६

जड़ दो प्रकार के तत्वों को मानता है। जिनमें चेतन पुरुष तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हां उसके सम्पर्क से जड़तत्व-प्रधान सारे जगत को अपने स्वरूप परिवर्तन द्वारा बनाता है।"[1] बौद्ध दर्शन भी अनित्यवाद, दुःखवाद और अनात्मवाद की घोषणा करता है परन्तु अनात्मवादी होते हुये भी वह भौतिकवादी नहीं है। वह आवागमन के रूप में तो पुर्नजन्म को अवश्य अस्वीकार करता है परन्तु एक दूसरे रूप में पर लोक पुनर्जन्म को स्वीकार भी कर लेता है। राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "आदमी ब्रह्मचर्यवास (साधु का जीवन) तब करता है, जबकि इस जीवन के बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करने का अवसर मिलने वाला हो। भौतिकवादी के वास्ते इसी लिये ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है। शरीर और जीव को भिन्न भिन्न मानने वाले आत्मवादी के लिये भी ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है क्योंकि नित्य ध्रुव आत्मा में ब्रह्मचर्य द्वारा संशोधन संवर्द्धन की गुंजाइश नहीं। इस तरह बुद्ध ने अपने को अभौतिकवादी अनात्मवादी की स्थिति में रखा।"[2] इसी प्रकार सांख्य और बौद्ध दर्शन अनीश्वर वादी और अनात्मवादी होते हुए भी पूरी तरह भौतिकवादी परम्परा में नहीं आते हैं। हिन्दू दार्शनिकों ने चार्वाक जैन और बौद्ध आदि को नास्तिक की श्रेणी में रखा है परन्तु साँख्य को नास्तिक नहीं कहा है। इसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में 'नास्तिक' शब्द का प्रयोग ही एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार **"वेद निन्दक ही असली नास्तिक हैं इस प्रकार अनीश्वरवादी सांख्य तो नास्तिक नहीं है, किन्तु हिन्दू दार्शनिकों की दृष्टि में जैन और बौद्ध नास्तिक हैं, क्योंकि वे वेदों की आप्तता को स्वीकार नहीं करते। इसी कारण ईश्वर में विश्वास करने वाले इतर धर्म, जैसे ईसाई मत और इस्लाम तथा ईश्वर जैसे अमिताभ बुद्ध में आस्था रखने वाले महायानी बौद्ध भी नास्तिक हैं।"**[3]

इसी प्रसंग में ध्यान देने वाली एक विशेष बात यह भी है कि भौतिकवादी आचार्यों ने राज्याश्रय की चिन्ता न करके कर्मकाण्ड के आडम्बर में धर्माचार्यों द्वारा जनता के शोषण की जहां कटु आलोचना की है वहां गौतम बुद्ध ने सत्ताधारियों से समझौता करने और उनके हितों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। श्राद्ध और पिण्डदान आदि के द्वारा पर लोक में पितरों की तृप्ति अथवा परलोक में सुख प्राप्त

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन (१९४४) पृ० ७६२।

२. वही, पृ० ५२०।

३. हिन्दी साहित्य कोष—ज्ञान मण्डल बनारस, पृ० २६।

करने की आशा से किये गये यज्ञादि कर्मकाण्ड को बृहस्पति और चार्वाक आदि ने पौरुषहीन व्यक्तियों की जीविका का साधन मात्र कहा। गौतम बुद्ध ने वैसे तो अपने धर्म का द्वार सभी के लिये खोला परन्तु महाजनों के हित का ध्यान रखते हुए उन्होंने घोषणा की कि ऋणी को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिये।[१] उन दिनों महाजन लोग संपति न होने पर ऋणी के शरीर तक को खरीद लेने का अधिकार रखते थे। इसी प्रकार दास स्वामियों के हितों का ध्यान रखते हुये उन्होंने घोषित किया कि दास को भी प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिये।[२] राजाओं के हितों को ध्यान में रखते हुये उन्होंने घोषित किया कि राज सैनिकों को भी प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिये।[३] फलस्वरूप धनी वर्ग का समर्थन और राज्याश्रय प्राप्त करके बौद्ध धर्म का बड़ी तीव्रगति से विकास हुआ। अतः इस दृष्टि से भी बौद्ध धर्म भारतीय भौतिकवादी परम्परा से अलग दिखलाई देता है।

भारतवर्ष आरम्भ से ही एक धर्म प्रधान देश रहा है। प्रखर धार्मिक विरोध के सामने भौतिकवादी दर्शन की उपर्युक्त परम्परा अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकी। उनके मूल ग्रन्थों को भी नष्ट कर दिया गया। आज उनका उल्लेख उनके विरोधियों की रचनाओं में ही यत्र तत्र प्राप्त होता है जिनमें उनके साथ कितना न्याय किया गया है यह कहना कठिन है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' आदि वाक्यों से उनका संबंध स्थापित करके उन्हें घोर अनैतिक और भोगवादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार "चार्वाक का शब्दार्थ है चबाने के लिए मुस्तैद-या जो खाने पीने को—इस दुनियां के भोग को ही सब कुछ समझता है। चार्वाक मत संस्थापक व्यक्ति का नाम नहीं है, बल्कि परलोक, पुनर्जन्म, देववाद से जो लोग इनकारी थे, उनके लिए यह गाली के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था।"[४] कहने का तात्पर्य यह है कि धार्मिक विरोध के कारण भारत में भौतिकवादी दर्शन का विकास नहीं हो सका। बुद्ध काल के बाद फिर चार्वाक दर्शन के विकास का कोई सूत्र हमें प्राप्त नही होता है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन; दर्शन दिग्दर्शन (१९४४) पृ० ५३९।

२. वही, पृ० ५३९।

३. वही, पृ० ५४०।

४. राहुल सांकृत्यायन— दर्शन दिग्दर्शन, (प्रथम संस्करण) पृ० ४८३।

भारत में धार्मिक विरोध के फलस्वरूप भौतिकवादी दार्शनिक परम्परा का भले ही लोप हो गया हो, परन्तु यूनान में प्राचीन काल में भौतिकवादी दर्शन की जो धारा प्रवाहित हुई थी वह धार्मिक विरोध के होते हुए भी उत्तरोत्तर विकिसित होती रही। समय समय पर इंगलैण्ड फ़ान्स और जर्मनी आदि देशों में अनेक प्रतिभा सम्पन्न भौतिकवादी दार्शनिक उत्पन्न होते रहे जिन्होंने योरोपीय दर्शन को बहुत प्रभावित किया।

योरोप में भौतिकवाद के विकास को कथा वास्तव में वैज्ञानिक विकास के साथ अविछिन्न रूप से संबद्ध है। अतः भौतिकवाद के विकास क्रम को वैज्ञानिक विकास क्रम की सापेक्षता में ही भली प्रकार देखा और समझा जा सकता है।[1] भौतिकवादी विचारकों का कथन है कि **अज्ञान** और **विज्ञान** का संघर्ष तो मानवता के आदिकाल से ही चलता चला आ रहा है। धर्म अज्ञान की छाया में ही फला और फूला है। वह तर्क, विज्ञान और बुद्धिवाद का नहीं, श्रद्धा और विश्वास का पक्षपाती है। इसके प्रतिकूल भौतिकवादी प्रत्येक धार्मिक विश्वास को तर्क की कसौटी पर कसना चाहता है और प्रत्येक बात का प्रमाण खोजता है। एक अज्ञान का पोषक है तो दूसरा विज्ञान का। यही दोनों के विरोध का मूल है।[2]

आदि मानव प्राकृतिक शक्तियों को देख कर आश्चर्य चकित रह जाता था परन्तु उसकी सीमित बुद्धि प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने में असमर्थ थी। फलतः अज्ञान के वशीभूत होकर उसने अनेक देवी देवताओं की कल्पना की और अनेक प्रकार की उपासनाओं में प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति ही मनुष्य के ज्ञान

---

1. 'Remember that materialism is a doctrine which has always been bound up with the sciences, which has evolved and advanced with the sciences.'

   George Politzer—An Elementary course in Philosophy. P. 79.

2. 'This struggle, which runs through mankinds' history, is the struggle between science and ignorance, it is a battle between two trends. One draws humanity towords ignorance and keeps it in that ignorance the other, on the contrary, works for the liberation of man through replacing ingnorance by science.'

   वही, पृ० ६१।

संकोच के फलस्वरूप हुई है। योरोप के मध्ययुगीन धार्मिकों का विश्वास था कि मोटे शरीर में दुबली आत्मा रहती और दुबले शरीर में भारी और बड़ी आत्मा का निवास होता है। इसी धारणा के फलस्वरूप उस युग के साधु संत समय समय पर लम्बे लम्बे अनशन करते रहते थे जिससे शरीर को दुबला करके बड़ी आत्मा के निवास के लिए स्थान बनाया जा सके।[1] प्राचीन यूनानी सभ्यता के प्रतिनिधि अरस्तू का विश्वास था कि यह पृथ्वी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। आकाश के समस्त ग्रह नक्षत्रादि इसी की परिक्रमा कर रहे हैं और यह अपने स्थान पर अटल और स्थिर है।[2] आगे चल कर गेलीलियो ने जब इस धारणा का खण्डन किया और पृथ्वी के गतिमान होने की घोषणा की तो तत्कालीन धर्माचार्यों ने इस नवीन वैज्ञानिक अन्वेषण की सराहना न करके उस पर अनैतिक अधार्मिक और बाइबिल विरोधी होने का आरोप लगाया और दण्ड स्वरूप अनेक यातनाएं दीं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उस युग के इतिहास में विद्यमान हैं। "उस वक्त के विश्वविद्यालय धर्म की मुट्ठी में थे और साइंस सम्बन्धी गवेषणा के लिए वहां कोई स्थान न था, इसीलिए साइंस की खोजों के लिए स्वतंत्र संस्थाएं स्थापित करनी पड़ीं। ले लेसिओ (१५७७–१६४४) ने ऐसी गवेषणाओं के लिए नेपल्स में पहली रसायनशाला खोली। १५४३ ई० में वेसालियस (१५१५–६४ ई०) ने शरीर शास्त्र पर साइंस सम्मत ढंग से पहली पुस्तक लिखी, इसमें उसने कल्पना को जगह हर बात को शरीर देख कर लिखने की कोशिश की। धर्म बहुत परेशानी में पड़ा हुआ था, वह मृत्यु के डर से साइंस की प्रगति को रोकना चाहता था। १५३३ ई० में सर्वेतस और १६०० ई० ग्योर्दिनो ब्रूनो आग में जला कर साइंस के शहीद बनाए गए।"[3] सन् १४५५ ई० में मुद्रण कला के आविष्कार से ज्ञान के प्रचार को बहुत बल मिला। पोप और पादरी हाथ से लिखी हुई पुस्तकों की दो चार प्रतियों को तो आसानी से नष्ट करवा सकते थे परन्तु छपी हुई सैकड़ों हजारों प्रतियों को नष्ट करना उनकी सामर्थ्य से बाहर हो गया। फलतः वैज्ञानिक प्रयोग और परीक्षण पर आधारित ज्ञान की सीमा का जैसे जैसे विस्तार होता गया उसी अनुपात में धार्मिक अंधविश्वास पर आधारित अज्ञान की सीमाएं संकुचित होने लगीं। इस प्रकार १५वीं, १६वीं शताब्दी के बाद धर्म की

---

1. George Politzer—An Elementary Course in Philosophy—P. 89.

२. वही, पृ० ८८।

३. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० २६६।

कूपमण्डूकता कम होने पर इंगलैण्ड तथा फ़ान्स में नए ढंग से भौतिकवाद का विकास आरम्भ हुआ।

१५वीं तथा १६वीं शताब्दियों में हमें भौतिकवाद की दो धाराएं अलग अलग विकसित होती हुई दिखलाई देती हैं। एक को हम अंग्रेजी भौतिकवाद और दूसरी को हम फ़ान्सीसी भौतिकवाद कह सकते हैं। इन दोनों के सम्मिलन से आगे चल कर अठारहवीं शताब्दी में भौतिकवाद के विकास के एक महान युग का आविर्भाव हुआ जिसमें **हार्टली, लामेत्री, हल्वेशियो, दा अलेम्बर, दोल्बाश, दीदेरो, प्रीस्टली** और **कबानी** आदि प्रसिद्ध भौतिकवादी दार्शनिक उत्पन्न हुए।

विज्ञान के अध्ययन में प्रयोगात्मक पद्धति के सूत्रपात का श्रेय इंगलैण्ड के महान विचारक बेकन (१५६१–१६२६ ई०) को है। इसीलिए उसे अंग्रेजी भौतिकवाद का पितामह कहा जाता है। उसने **स्कोलास्टिक** वर्ग के किताबी विज्ञान का विरोध करते हुए **'प्रकृति की महान पुस्तक'** से विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया। तत्कालीन आत्मवादी दार्शनिकों का विश्वास था कि समस्त विचारों का मूल परमात्मा है। वही हमें विचार देता है अतः विचार ही प्रधान है–वस्तु नहीं। उसके प्रतिकूल भौतिकवादियों का कहना था कि भौतिक जगत ही विचारों का मूल है, अतः प्रधानता वस्तु की है न कि विचारों की। **बेकन** ने बतलाया कि विचारों की स्थिति इसीलिए है कि हम वस्तुओं को देख सकते हैं और छू सकते हैं, परन्तु वह इसे सिद्ध नहीं कर सका। यह कार्य उसके बाद दूसरे प्रसिद्ध विचारक **लाक** (१६३२–१७०४ ई०) ने किया। उसने बतलाया कि किस प्रकार हमारे अनुभव से ही हमारे विचारों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य के मन में मेज की कल्पना पहले उत्पन्न हुई और फिर उसने मेज का निर्माण किया, इसका आशय यह नहीं है कि वस्तु की अपेक्षा विचार प्रधान है वरन् इसका आशय यह है कि उसने किसी पेड़ के तने या पत्थर से काम लेकर मेज़ के अस्तित्व में आने से पहले ही उसका पूर्वानुभव प्राप्त कर लिया था।'[1] इस प्रकार जब इंगलैण्ड में भौतिक-वादी विचारधारा का इस रूप में विकास हो रहा था उस समय फ़ान्स में **दे-कार्त** से आरम्भ होकर भौतिकवादी विचारधारा एक नये ही रूप में विकसित हो रही थी।

दे-कार्त (Descortes, 1596–1650) यद्यपि द्वैतवादी ईश्वर विश्वासी कट्टर कैथलिक ईसाई था लेकिन उसके दर्शन ने अनजाने फ़ान्स में भौतिकवादी विचारों के

---

1. George Politzer—An Elementary course in Philosophy. P. 83.

फैलाने में सहायता की। दे-कार्त का मत था कि निम्न श्रेणी के प्राणी चलते फिरते यन्त्र भर हैं, यदि प्राणी के सभी अंग ठीक जगह पर लगे हों तो बिना आत्मा के सिर्फ इन्द्रियों द्वारा उत्पादित उत्तेजना से भी शरीर चलने फिरने लगेगा। इसी को लेकर **ला मेत्री** (La Mettrie 1709–1751) और दूसरे फ्रेंच भौतिकवादियों ने आत्मा को अनावश्यक साबित किया और कहा कि सभी सजीव वस्तुएं भौतिक तत्वों से बने चलते फिरते स्वयंवह यन्त्र हैं। ला मेत्री ने कहा—जब दूसरे प्राणी, दार्शनिक दे-कार्त के मत से, बिना आत्मा के भी चल फिर, सोच समझ सकते हैं, तो मनुष्य में ही आत्मा की क्यों जरूरत है? सभी प्राणी एक ही विकास के नियमों का अनुसरण करते हैं, अन्तर है तो उनके विकास के दर्जे में। **कबानी** (१७५७–१८०८ ई०) के ग्रन्थ फ्रान्स में भौतिकवाद के प्रचार में सहायक हुए। उसकी कितनी ही कहावतें मशहूर हैं–"शरीर और आत्मा एक ही चीज है" 'मनुष्य ज्ञान तन्तुओं का गट्ठा है' 'पित्ता जिस तरह रस प्रस्राव करता है वैसे ही दिमाग विचारों का प्रस्राव करता है' 'भौतिक तत्वों के नियम मानसिक आचारिक घटनाओं पर भी लागू है।"[1]

फ्रान्स में जिस समय इस प्रकार की विचारधारा विकसित हो रही थी उसी समय **लाक** के विचारवाद से प्रभावित अंग्रेजी भौतिकवाद ने फ्रान्स में प्रवेश किया। इन दोनों धारणाओं के मिलन से अठारहवीं शताब्दी में भौतिकवाद ने जो नया रूप धारण किया उसका उल्लेख हम आगे की पंक्तियों में करेंगे।

यान्त्रिक भौतिकवाद

यह पहले ही कहा जा चुका है कि योरोप में विज्ञान के विकास के साथ ही साथ भौतिकवाद का विकास हुआ है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने समय समय पर भौतिकवादी विचारधारा को नई गति और नया रूप प्रदान किया है। प्राचीन काल से लेकर अब

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, (१९४४) पृ० ३२५।

तक के दार्शनिक और वैज्ञानिक विकास की तुलना करने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

प्राचीन काल के यूनानी दार्शनिक मूलत: भौतिकवादी थे परन्तु उस समय दर्शन की अपेक्षा विज्ञान बहुत पिछडी हुई अवस्था में था। वैज्ञानिक प्रयोग के अभाव में वे अपनी धारणाओं को सिद्ध कर सकने में असमर्थ थे। फलत: भौतिकवाद का विकास कुंठित हो गया और मध्ययुग के अंत तक हमें भौतिकवादी विचारधारा बहुत ही क्षीण और दुर्बल दिखलाई देती है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में विज्ञान का विकास बहुत तीव्र गति से आरम्भ हुआ। प्रत्येक क्षेत्र में नवीन आविष्कार और अनुसंधान किए जाने लगे। विज्ञान की इस उन्नति के साथ ही साथ इंगलैण्ड से लेकर फ्रान्स तक भौतिकवाद का भी तीव्रगति से विकास आरम्भ हुआ। अठारहवीं शताब्दी का फ्रान्सीसी भौतिकवाद तो तत्कालीन वैज्ञानिक विकास का ही सीधा परिणाम है। आगे चल कर उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने और अधिक प्रगति की और प्रकृति के अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया फलत: भौतिकवादी धारणा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। मार्क्स और ऐंगेल्स के प्रभाव से भौतिकवाद का जो स्वरूप विकसित हुआ वह पिछले सब रूपों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं तर्क सम्मत था। आज जिस तीव्र गति से विज्ञान का विकास हो रहा है उसी अनुपात में भौतिकवादी विचारधारा भी पुष्ट होती जा रही है।

इस बात को दृष्टि में रखते हुए जब हम अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद की व्याख्या करते हैं तो वह हमें पूरी तरह तत्कालीन वैज्ञानिक विकास से प्रभावित दिखलाई देता है। विज्ञान की दृष्टि से वह यन्त्रवाद का युग था। अनेक यान्त्रिक आविष्कार हो चुके थे। चाभी से चलने वाली घड़ियां भी बन चुकी थीं। "न्यूटन (१६४२–१७२७ ई०) के सत्रहवीं सदी के आविष्कार गुरुत्वाकर्षण (१६५७ ई०) और विश्व की यान्त्रिक व्याख्या ने सत्रहवीं सदी और आगे की दार्शनिक विचारधारा पर प्रभाव डाला। अठारहवीं सदी में हर्शल (१७३८–१८२२ ई०) ने न्यूटन के यान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार शनि की कक्षा से और परे वरुण ग्रह तथा शनि के दो उपग्रहों का (१७८६ ई०) आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त उसने एक दूसरे के गिर्द घूमने वाले ८०० युग्म तारे खोज निकाले जिससे यह भी सिद्ध हो गया कि न्यूटन का यान्त्रिक सिद्धान्त सौरमण्डल के आगे भी लागू है। शताब्दी के अन्त (१७९९ ई०) में लाप्लास ने अपनी पुस्तक "खगोलीय यन्त्र"[1] लिखकर उक्त सिद्धान्त की और पुष्टि

1. 'Celestial Mechanics.'

की। इधर भौतिक साइन्स ने भी ताप, ध्वनि, चुम्बक, बिजली की खोजों में नई बातों का आविष्कार किया। रम्फ़ोर्ड ने सिद्ध किया कि ताप भी गति का एक भेद है। हांक्सवी ने १७०५ ई० में प्रयोग करके पहले पहल बतलाया कि ध्वनि हवा पर निर्भर है हवा न होने पर ध्वनि नहीं पैदा हो सकती। रसायन शास्त्र में प्रीस्टली (१७३३-१८०४ ई०) और शीले (१७४२-१७८६ ई०) ने एक दूसरे से स्वतंत्र रूपेण आक्सीजन का आविष्कार किया। कवेण्डिश (१७३१-१८१० ई०) ने आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाकर साबित किया कि पानी दो गैसों से मिल कर बना है। इसी शताब्दी में हटन (१७२६-१७६७ ई०) ने अपनी पुस्तक "पृथ्वी सिद्धान्त"[1] लिख कर भू गर्भ साइन्स की नीव डाली।"[2]

इन समस्त वैज्ञानिक आविष्कारों ने तत्कालीन दर्शन को बहुत प्रभावित किया। अनेक प्रकार के यन्त्रों को कार्य करता हुआ देख कर तथा न्यूटन की गुरुत्वाकर्षण पर आधारित विश्व की यान्त्रिक व्याख्या[3] से प्रभावित होकर भौतिकवादी ही नहीं अनेक आत्मवादी दार्शनिक भी जीव और जगत की यान्त्रिक व्याख्या करने लगे। ईश्वरवादी फ्रान्सीसी दार्शनिक दे-कार्त का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उसका विश्वास था कि मनुष्य को छोड़ कर अन्य समस्त जीवधारी हाड़ मांस के बने हुए चलते फिरते यंत्र मात्र हैं। जिस प्रकार मशीन में गति होती है पर चेतना नहीं होती इसी प्रकार इन जीवों में भी आत्मा नहीं है वे चेतना शून्य हैं। उसके अनुयायी कुत्तों के शरीर में सूजे भोंक कर दिखलाते थे कि प्रकृति का विधान कितना विचित्र है। लोग समझते हैं कि इन्हें पीड़ा होती होगी, परन्तु ऐसा नहीं हैं। यह चेतना शून्य हैं।[4] यह "विश्व को

---

1. 'Theory of Earth.'

२. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३०६-३१०।

३. 'सौर मण्डल के सम्बन्ध में न्यूटन का सिद्धान्त था कि आरम्भ में उसे जो वेग मिल गया उसी से वह आज तक चल रहा है और अनन्त काल चिरंतन रूप से स्थायी रहेगा।'

फ्रेडरिक ऐंगेल्स—समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक (प्रथम हिन्दी संस्करण) पृ० २५।

4. '...he (Descortes) believed and asserted that animals are but machines of flesh and sinews, as other machines are of iron and wood. He even thought neither machine had feeling; and when at the Abbey Port Royal, during weeks of study, adherents of his philosophy were sticking needles into some dogs they said, "How well nature is made. You would think they are suffering."'
George Politzer - An Elementary Course in Philosophy. P. 84.

भारी घड़ी यन्त्र और ईश्वर को चाभी लगाने वाला मानते थे। इस यान्त्रिक ईश्वर-वाद में ऐसे विचार भी शामिल थे जिनमें ईश्वर को प्रलय तक के लिए चाभी लगा कर आराम करते बतलाया गया था, और इसीलिए उनका कहना था, बीच में सारी बातें प्राकृतिक नियम से चलती हैं।"[1] इसी प्रकार अनेक भौतिकवादी दार्शनिक भी उत्पन्न हुए जिन्होंने विश्व व्यापार की यान्त्रिक व्याख्या की। इन दार्शनिकों के द्वारा यन्त्रवाद से प्रभावित भौतिकवाद का जो स्वरूप अठारहवीं शताब्दी में विकसित हुआ उसे **यान्त्रिक भौतिकवाद** की संज्ञा प्रदान की गई।

फ्रान्स का दार्शनिक **ला-मेत्री** (१७०६-१७५१ ई०) भी इसी प्रकार के यान्त्रिक भौतिकवादियों में से ही एक था जिसने दे-कार्त के 'पशु यन्त्र' के सिद्धान्त को मनुष्य पर घटित किया और आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए उसे भी यन्त्रवत् ही ठहराया। "यान्त्रिक भौतिकवादियों के लिए मन और भूत एक ही चीज थी। इस अर्थ में नहीं कि प्रकृति से मन विकसित हुआ है, बल्कि दोनों अभिन्न हैं। गुणात्मक परिवर्तन से विच्छेद युक्त प्रवाह द्वारा किस तरह बिलकुल नई वस्तु-घटन पैदा होती है, इसे यह महत्व नहीं देते थे। उनके लिए जिस तरह घड़ी उसके पुर्जे का योग है, वैसे ही मन भी उसके बनाने वाले भौतिक तत्वों का योग है।"[2] फ्रान्स के एक अन्य भौतिकवादी महान दार्शनिक **होलबाश** का कहना था कि "यदि कोई पूर्ववर्ती समस्त कल्पनाओं को अस्वीकार कर दे और यह कहे कि प्रकृति अपरिवर्तन-शील सामान्य नियमों के अनुसार कार्य करती है, यदि कोई यह विश्वास करे कि मनुष्य, चौपाए, मछली, कीड़े, वृक्ष आदि सदा से ऐसे ही रहते आए हैं और अनन्त काल तक ऐसे ही रहेंगे अथवा कोई यह आग्रह करे कि नक्षत्र आकाश मण्डल में अनन्त काल तक इसी प्रकार जगमगाते रहेंगे, तो हम (भौतिकवादियों) को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"[3] इन उदाहरणों से अठारहवी शताब्दी के यान्त्रिक भौतिकवाद की रूपरेखा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ० २७-२८।

२. राहुल सांकृत्यायन—वैज्ञानिक भौतिकवाद (प्रथम संस्करण, १९४२ ई०) पृ० २८।

3. D. Holbach – quoted by David Guest – A Text Book of Dialectical Materialism. P. 13.

ऐंगेल्स ने अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद की इस यान्त्रिक जड़ता की आलोचना करते हुए **फ्योरबाख** सम्बन्धी अपने प्रबन्ध में लिखा था "गत शताब्दी का **भौतिकवाद मुख्यतः यान्त्रिक था क्योंकि उस समय समस्त** प्राकृतिक विज्ञानों में से **केवल यन्त्रशास्त्र और विशेषकर आकाशीय पिण्डो का** गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी यन्त्र-**शास्त्र ही किसी एक निष्कर्ष पर पहुंच पाया था।**.... दे-कार्त के लिए जैसे पशु था **वैसे ही अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादियों के लिए मनुष्य भी एक यन्त्र ही था।** ....**रासायनिक एवं प्राणि विज्ञान सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर यन्त्रशास्त्र के मानों का एकान्तिक आरोप करना और यह न समझना कि यन्त्रवाद के नियम ठीक होते हुए भी अन्य ऊच्चतर नियमों के विद्यमान होने पर अध्याहार में पड़ जाते हैं, पुराने फ्रान्सीसी भौतिकवाद की एक बहुत बड़ी कमी थी जो उस समय के लिए अनिवार्य थी।**[1]

इस भौतिकवाद की दूसरी बड़ी कमी थी विश्व को विकास की अवस्था में देखने अथवा ऐतिहासिक घटना प्रवाह के द्वारा निरन्तर विकसित होते हुए भौतिक तत्व के रूप में देखने और समझने में असमर्थ रहना। प्रकृति के सम्बन्ध में यह तो ज्ञात था कि वह चिर गतिशील है परन्तु उस युग की धारणाओं के अनुसार यह गतिशीलता सतत् वृत्ताकार समझी जाती थी जो अपने स्थान से कभी इधर उधर नहीं हो सकती थी और इसलिए बारम्बार एक ही परिणाम को उत्पन्न करने वाली थी।[2]

इस प्रकार यान्त्रिक भौतिकवादियों का दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक न होकर अति-भूतात्मक था। वे द्वन्द्वात्मक विधि से प्रकृति के वास्तविक विकास क्रम को समझ सकने में ससमर्थ थे और प्राकृतिक नियमों के अध्ययन और विश्लेषण के लिए सर्वत्र यान्त्रिक मानों का ही उपयोग करते थे। यह उनकी सबसे बड़ी निर्बलता थी जिसका परिशोधन करके उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्स और ऐंगेल्स ने भौतिकवाद को एक नवीन वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया।

---

1. F. Engeles – Ludwig Feuerbach and the outcome of Classical German Philosophy. P. 30–31.

२. वही, पृ० ३१।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में आकर विज्ञान ने और अधिक उन्नति की जिसके फलस्वरूप मनुष्य के ज्ञान में भी भारी परिवर्तन हुआ। स्पेकट्रस्कोप (वर्णरश्मि-दर्शक यन्त्र) के आविष्कार ने ग्रहों उपग्रहों के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या धारणाओं का निवारण करके उनके ताप, घनता, दूरी आदि पर नया प्रकाश डाला। 'वैज्ञानिकों ने सिर्फ **परमाणुओं** की ही छानबीन नहीं की बल्कि टाम्सन परमाणुओं को भी तोड़ कर **एलेक्ट्रन** पर पहुंच गया। बिजली से परिचय ही नहीं बल्कि शताब्दी के अन्त तक सड़कों और घरों को बिजली प्रकाशित करने लगी। रसायन शास्त्र में परमाणुओं की नाप तौल होने लगी और हाइड्रोजन को बटखरा बना परमाणु तत्वों के भार आदि का पता लगाया गया। १८२८ ई० में वोलर ने सिर्फ प्राणियों में मिलने वाले तत्व 'ऊरिया' को रसायन शाला में कृत्रिम रूप से बना कर सिद्ध कर दिया कि भौतिक नियम प्राणि-अप्राणि दोनों जगत में एक से लागू हैं। शताब्दी के आरम्भ में ३० के करीब मूल रसायन तत्व ज्ञात थे, किन्तु अन्त में उनकी संख्या ८० तक पहुंच गई। प्राणिशास्त्र में अनुवीक्षण से देखे जाने वाले बेक्टीरिया और दूसरे कीटाणुओं की खोज, उनके गुण आदि ने विज्ञान के ज्ञान-क्षेत्र को ही नहीं बढ़ाया बल्कि पास्तोर की इन खोजों ने घाव आदि की चिकित्सा तथा टीन-बन्द खाद्य पदार्थों की तैयारी में बड़ी सहायता पहुंचाई। डेवी ने बेहोशी की दवा निकाल कर चिकित्सकों के लिए आपरेशन आसान बना दिया। शताब्दी के मध्य में डार्विन के जीवन विकास के सिद्धांत ने विचारों में भारी क्रान्ति पैदा की और जड़ चेतन की सीमाओं को बहुत नजदीक कर दिया।''[1] विज्ञान की इस आश्चर्यजनक उन्नति ने दर्शन के क्षेत्र में भी क्रान्ति उपस्थित कर दी। ज्ञान के इस नवीन आलोक में अठारहवीं शताब्दी के यान्त्रिक भौतिकवाद की धारणाएं निर्बल पड़ने लगीं। बुखनेर और फ्योरबाख़ आदि के द्वारा विकसित होते हुए भौतिकवाद ने हेगेल के प्रभाव से, मार्क्स और ऐंगेल्स तक पहुंचते पहुंचते एक नया ही रूप धारण कर लिया जिसे **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** की संज्ञा प्रदान की गई।

१, राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन (१९४४) पृ० ३२७-३२८।

बिजली के आविष्कार ने दर्शन पर जो प्रभाव डाला उसकी छाया हमें भौतिकवादी दार्शनिक बुखनेर (१८२४-९९ ई०) के विचारों में दिखलाई देती है। उसका विश्वास था कि "सभी शक्तियां गति हैं और सभी चीजें गति और भौतिक तत्वों के योग से बनती हैं। गति और भौतिक तत्वों को हम अलग अलग समझ सकते हैं, किंतु अलग नहीं कर सकते।"[१] वास्तव में गति और परिवर्तन की व्याख्या करने वाला पहला व्यक्ति प्राचीन यूनान का भौतिकवादी दार्शनिक हिरेक्लाइटस[२] था जो वस्तुओं में विद्यमान विरोधी प्रवृत्तियों को ही उनके विकास का मूल कारण मानता था। उसके अनुसार "इस संसार को किसी देवता या मनुष्य ने नहीं बनाया वरन् वह एक सप्राण ज्योति है, जो थी, है और सदा रहेगी। वह नियमित रूप से जल उठती है और नियमित रूप से ही ठंडी हो जाती है।"[३] परिवर्तन शीलता के बारे में उसका कहना था कि "दुनियां निरंतर बदल रही है हर एक चीज दीप शिखा की भांति हर वक्त नष्ट और उत्पन्न हो रही है। चीजों में किसी तरह की वास्तविक स्थिरता नहीं है। स्थिरता केवल भ्रम है जो परिवर्तन की शीघ्रता तथा सदृश उत्पत्ति (उत्पन्न होने वाली चीज अपने से पहले के समान होती है) के कारण होता है। परिवर्तन विश्व का जीवन है।"[४] इसका उदाहरण देते हुए उसने कहा कि कोई व्यक्ति एक ही धारा में दो बार स्नान नहीं कर सकता क्योंकि जो धारा पहले क्षण में थी वह अब दूसरे क्षण नहीं है, बदल कर दूसरी हो चुकी है।[५]

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३४४।

2. Heraclitus (535–475 B. C.)

३. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृ० १२२।

४. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ९।

5. 'Nothing is motionless, every thing flows; one never bathes twice in the same stream, for it is never, for two succeeding instants, the same. From one instant to the other it has changed; it has become different.'

Heraclitus—Quoted by G. Politzer. in An Elementary Course in Philosophy. (English translation by Dr, G. P. O. Day) Sydney, 1950, P. 80.

हिरेक्लाइटस के इन विचारों में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मूल तत्व बीज रूप में विद्यमान थे, परन्तु यह बीज उस युग में अंकुरित और पल्लवित नहीं हो सके क्योंकि उस समय विज्ञान उन विचारों का समर्थन करने में असमर्थ था। अठारहवीं शताब्दी के अंत में तत्कालीन वैज्ञानिक विकास की भूमिका में हेगेल (१७७०–१८३१ ई०) ने उसे अपने विचारवाद का आधार बना कर एक सांगोपांग गम्भीर आधुनिक दर्शन का स्वरूप प्रदान किया। हेगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों के बारे में **ऐंगेल्स** ने लिखा था **"हेगेल की प्रणाली की विशेषता यह है कि उसमें पहले पहल समस्त प्राकृतिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक जगत को एक क्रम के रूप में, अर्थात निरंतर गति, परिवर्तन और विकास के रूप में उपस्थित किया गया, और इस गति और विकास में अन्तर्निहित सम्बन्धों को दर्शाने की चेष्टा की गई।"**[१] द्वन्द्वात्मक विकास का सिद्धांत,[२] दर्शन के क्षेत्र में हेगेल की एक बहुत बड़ी देन है जिसने आगे चल कर मार्क्सवाद के विकास के लिए एक आधार शिला का काम दिया।

हेगेल के बाद उसके दार्शनिक अनुयायी दो वर्गों में बंट गए। एक वर्ग तो **डूरिंग** जैसे भौतिकवाद के विरोधियों का था और दूसरा **फ्योरबाख** जैसे विचारकों का था जो हेगेल के दर्शन को रहस्यवाद और मनोवाद से युक्त करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर ले जा रहे थे। फ्योरबाख अपने मूल रूप में धर्म का विरोधी एवं भौतिकवाद का समर्थक था परन्तु साथ ही वह धर्म शब्द का बहिष्कार भी नहीं करना चाहता था। वास्तव में वह भौतिकवाद को ही धर्म का आसन देना चाहता था। धर्म की व्याख्या करते हुए अपने ग्रन्थ **"ईसाइयत सार"**[३] में उसने लिखा "धर्म का आदि, मध्य और अन्त मानव है।" "मनुष्य की उच्चतम सत्ता, उसका ईश्वर वह स्वयं है।" "मानव और पशु के बीच का वास्तविक भेद धर्म का आधार है। पशुओं में धर्म नहीं है।"[४] इस प्रकार **फ्योरबाख** ने धर्म का प्रयोग **'मानवता धर्म'** के विशेष अर्थ में किया और इस मानवता धर्म पर प्रकाश डालते हुए उसने लिखा **"मनुष्य मनुष्य के लिए ईश्वर है, यह महान व्यावहारिक सिद्धान्त है, यही धुरी है**

---

१. फ्रेडरिक ऐंगेल्स—समाजवाद : वैज्ञानिक और काल्पनिक (प्रथम हिन्दी संस्करण) पृ० २५।

2. Theory of Dialectical Evolution.

3. 'The Essence of Christianity.'

४. फ्योरबाख—राहुल सांस्कृत्यायन द्वारा 'दर्शन दिग्दर्शन' में उद्धृत; पृ० ३४६।

जिस पर जगत का इतिहास चक्कर काटता है।"[1] उसका कहना था कि दिव्य तत्व मानवीय है। मनुष्य के लिए परमतत्व उसका अपना स्वभाव है। अपनी इस बात को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा "किसी मनुष्य के जैसे विचार, जैसी प्रवृत्तियां होती हैं, वैसा ही उसका ईश्वर होता है, जितने मूल्य का मनुष्य होता है उतना ही उसका ईश्वर होता है, उससे अधिक नहीं। ईश्वर सम्बन्धी चेतना आत्म (अपनी) चेतना है, ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान आत्म (अपना) ज्ञान है। उसके ईश्वर से तू उस मनुष्य को जानता है और उस मनुष्य से उसके ईश्वर को, दोनों (मनुष्य और उसका ईश्वर) एक हैं।"[2] फ्योरबाख की इन भौतिकवादी मानवतावादी धारणाओं ने भी मार्क्सवाद के लिये एक आधार शिला का काम किया।

मार्क्स पर हेगेल और फ्योरबाख दोनों का ही प्रभाव था परन्तु साथ ही वह इन दोनों की निर्बलताओं और सीमाओं से भी परिचित था। अतः उसने इन दोनों के दर्शन से अनुपयोगी मान्यताओं का त्याग कर केवल तर्क सम्मत सारतत्व को ग्रहण कर लिया। जहां तक भौतिकवाद का सम्बन्ध है मार्क्स फ्योरबाख का अनुयायी था परन्तु फ्योरबाख की भौतिकवादी विचारधारा में अनेक असंगतियां विद्यमान थीं।[3] यही उसकी सबसे बड़ी निर्दलता थी। मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद के प्रकाश में इन असंगतियों को दूर करके फ्योरबाख के भौतिकवाद को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। दूसरे शब्दों में उसने हेगेल के द्वन्द्ववाद और फ्योरबाख के भौतिकवाद को लेकर दोनों के समन्वय से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

हेगेल की सीमाओं का उल्लेख करते हुए ऐंगेल्स ने लिखा था 'पहली सीमा उसके अपने ज्ञान की थी जो निश्चित ही अधिक व्यापक नहीं था। दूसरी सीमा थी उस

---

१. वही, पृ० ३४६।

२. वही, पृ० ३४७।

3. 'From 1844–45 on, when his views took shape, Marx was a materialist, in particular, a follower of Ludwig Feuerbach, whose weak sides he even later considered to consist exclusively in the fact that his materialism was not consistent and comprehensive enough.'

Lenin–Marx Engels : Marxism. page 20.

युग के ज्ञान की जो न उतना व्यापक था और न उतना गम्भीर ही। ज्ञान के अनुरूप ही उस युग के विचार भी सीमित थे। और तीसरी सीमा हेगेल के अपने विचारों की थी क्योंकि वह एक आदर्शवादी था। विचार को वह यथार्थ वस्तुओं और क्रियाओं का मानव चित्त पर अंकित निराकार प्रतिबिम्ब नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में विचार की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी जो विश्व के अस्तित्व के पूर्व से ही चली आती थी।[1] अपनी इन्हीं सीमाओं के फलस्वरूप, द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त का प्रवर्तक होते हुए भी, वह सृष्टि के विकास क्रम को समझने के लिए अपने इस सिद्धान्त का सही दिशा में उपयोग नहीं कर सका। ऐंगेल्स के शब्दों में **"हेगेल की इस चिन्तन प्रणाली का परिणाम यह था कि उसने हर चीज को सिर के बल खड़ा कर दिया और संसार की वस्तुओं के यथार्थ सम्बन्ध को पूरी तरह उलट पुलट दिया।"**[2] आगे चल कर मार्क्स ने हेगेल की इस कमी को पूरा किया और बतलाया कि भौतिक तत्व की सत्ता ही प्रधान है। भौतिक तत्व से अलग विचारों की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। भूत[3] ही विकास की उच्चतम अवस्था में मस्तिष्क का रूप धारण करता है और फिर मस्तिष्क से विचारों की क्रिया सम्पन्न होती है। इस प्रकार भूत से मन की उत्पत्ति है, मन से भूत की नहीं।[4]

मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन की व्याख्या करते हुए भूत के सम्बन्ध में लेनिन ने कहा था **"पदार्थ (भूत) वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर आघात करके संवेदना उत्पन्न करता है। पदार्थ वह वस्तुगत (वैज्ञानिक) सत्य है जो हमें संवेदना में प्राप्त होता है ......भौतिक जगत, पदार्थ सत्ता ...... जो कुछ भी प्राकृतिक है वह मूल है,**

---

१. फ़्रेडरिक ऐंगेल्स : समाजवाद—वैज्ञानिक और काल्पनिक, पृ० २५-२६।

२. वही, पृ० २६।

3. Matter.

4. 'The material, sensuously perceptible world to which we ourselves belong is the only reality......................Our consciousness and thinking, however supra-sensuous they may seem, are the product of a material bodily organ, the brain. Matter is not a product of mind but mind itself is merely the highest product of matter.'—Engels; Karl Marx—Selected works. Vol. I, p. 435.

आत्मा, चेतना, संवेदना ......जो कुछ भी मानसिक है वह गौण है।"[1] भूत की व्याख्या करते हुए मार्क्स के सहयोगी ऐंगेल्स ने कहा था कि भूत की सत्ता ही गतिमय है। बिना भूत के गति की और बिना गति के भूत की कल्पना नितान्त असंभव है।[2] भूत की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए मार्क्स ने स्वयं कहा था कि भूत स्वयं चिन्तन क्रिया को सम्पन्न करने वाला अथवा चिन्तक है। भूत से विचार को अलग करना असंभव है। समस्त परिवर्तनों का सूत्र भूत के हाथ में है।[3] इसी बात को लेनिन ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा था "भूत की गतिमयता और चिन्तनशीलता का चित्र ही सृष्टि का वास्तविक चित्र है।"[4] इस प्रकार दार्शनिक भौतिकवाद भूत की वस्तुगत सत्ता को ही एकमात्र सत्य मानता है जिसकी स्थिति हमारे मन से बाहर है।

भूत की स्थिति के सम्बन्ध में देश और काल की धारणा को भी मार्क्स और ऐंगेल्स ने सत्य माना है। काण्ट (१७२५–१८०४ ई०) आदि आत्मवादी दार्शनिकों का मत है कि देश और काल की धारणा हमारे मन की उपज है। एक कल्पना मात्र है और अवास्तविक है। उनका कहना है कि "हमारी आन्तरिक मनस-क्रिया काल की सीमा के भीतर अर्थात् एक के बाद दूसरा करके होती है, और बाहरी इन्द्रिय ज्ञान देश की सीमा के भीतर होता है अर्थात् हम उन्हीं चीजों का प्रत्यक्ष कर सकते

---

१. लेनिन—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास में उद्धृत, पृ० १२३।

2. Motion is the mode of existence of matter. Never any where has there been matter without motion, nor can there be....... Matter without motion is just as unthinkable as motion without matter.

F. Engeles : Anti – Duhring. P. 71.

3. 'It is impossible to seperate thought from matter that thinks. Matter is the subject of all changes.'

Karl Marx—selected works—Vol. I; P. 397.

4. 'The world picture is a picture of how matter moves and of how matter thinks.'

Lenin—Selected Works Vol. XI; P. 377.

हैं जिनका कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध है। देश और काल वस्तु-सत्य अर्थात् बिना दूसरे की सहायता के खुद अपनी सत्ता के धनी नहीं हैं।"[1] इसके प्रतिकूल मार्क्सवाद का कथन है कि देश काल की स्थिति हमारे अन्दर नहीं है वरन् हमारी अपनी स्थिति ही देश काल के अन्दर है। **ऐंगेल्स** के शब्दों में **"सम्पूर्ण अस्तित्व का मूल रूप देश और काल है। काल के परे अस्तित्व की कल्पना ऐसी ही असंगत एवं निराधार है जैसी देश की सीमा के परे।"**[2] मार्क्सवादी धारणा के अनुसार भूत निर्जीव अथवा जड़ न होकर सतत् गतिशील है। गतिशीलता को स्वीकार कर लेने पर उसी के साथ देश और काल की स्वीकृति भी स्वतः ही हो जाती है क्योंकि गति के साथ समय और स्थान की भावना अनिवार्य रूप से संलग्न है। गति एक क्षण से दूसरे क्षण और एक स्थान से दूसरे स्थान में ही संभव हो सकती है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए **लेनिन** ने कहा था **"संसार में गतिशील भूत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और गतिशील भूत बिना देश और काल के गति नहीं कर सकता।"**[3]

मार्क्सवाद प्रकृति (गतिशील भूत) और उसके विकास क्रम को पूर्णतः बोधगम्य मानता है। वह इन्द्रियों की सीमा से परे किसी अज्ञेय रहस्य की स्थिति में विश्वास नहीं करता। काण्ट आदि आत्मवादियों की धारणा है कि "तजर्बे पर निर्भर मानव बुद्धि बहुत दूर तक जा सकती है, इसमें शक नहीं किन्तु उसकी गति अनन्त तक नहीं हो सकती। उसकी दौड़ की भी सीमा है। ईश्वर, परलोक या परजीवन मानव के तजर्बे की सीमा से बाहर की—सीमापारीय[4] चीजें हैं। इसलिए उनके बारे में कोई

---

१. राहुल सांकृत्यान—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३१५।

2. 'The basic forms of all being are space and time, and existence out of time is just as gross an absurdity as existence out of space.'

F. Engeles : Anti – Duhring. P. 63.

3. 'There is nothing in the world but matter in motion, and matter in motion can not move otherwise than in space and time.'

V. I. Lenin—'Materialism and Empirio – Criticism'. P. 177.

4. Transcendental.

तर्क वितर्क नहीं किया जा सकता। तर्क से न उनका खण्डन ही किया जा सकता है, न उन्हें सिद्ध ही किया जा सकता है। उन्हें श्रद्धावश माना जा सकता है।"[1] इस श्रद्धावाद और अज्ञेयतावाद का खण्डन करते हुए लेनिन ने लिखा था "आधुनिक श्रद्धावादी विज्ञान को अस्वीकार नहीं करते। उनकी समझ में केवल विज्ञान का यह 'दावा बहुत बढ़ा चढ़ा' है कि वह वस्तुगत सत्य को जान सकता है। किन्तु यदि वस्तुगत सत्य संभव है (जैसा कि भौतिकवादियों का विचार है) और यदि बाह्य संसार को मानवीय 'अनुभव' के दर्पण में प्रतिबिम्बित करके प्रकृति विज्ञान ही हमें वस्तुगत सत्य दे सकता है, तो श्रद्धावाद का यहीं से समूल ध्वंस हो जाता है।"[2]

इस प्रकार मार्क्सवाद किसी अज्ञेय तत्व की सत्ता में विश्वास नहीं करता है। उसका कहना है कि प्रकृति व्यापार के जो रहस्य आज हमारे लिए अज्ञेय हैं, भविष्य में वे ही द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों के प्रकाश में विज्ञान की सहायता से प्रयोग और अनुभव के द्वारा ज्ञेय हो सकते हैं। हमारे ज्ञान के विकास की कोई सीमा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम मार्क्सवादी भौतिकवादी धारणा को संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं :—

१—भूत की सत्ता ही एक मात्र सत्य है और यह सत्य पूर्णतः बोधगम्य है।
२—भूत की स्थिति हमारे मनोजगत से बाहर और स्वतंत्र है।
३—भूत की स्थिति सतत् गतिमय है।
४—भूत की स्थिति देश और काल में है।

स्तालिन[3] के शब्दों में मार्क्सवादियों के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं :—

१—'आदर्शवाद के अनुसार यह विश्व किसी 'पूर्ण अध्यात्म तत्व' किसी 'व्यापक आत्मा' किंवा 'चेतना' का मूर्त स्वरूप है। इसके विपरीत मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का कहना है कि संसार स्वभाव से ही भौतिक है, उसके अनेक रूप धारण करने

---

१. राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३१३।

२. लेनिन—'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' में उद्धृत, पृ० १२४।

३. वही, पृ० १२२-१२३।

वाले दृश्य गतिशील पदार्थ (भूत) के ही विभिन्न रूप हैं, ये रूप परस्पर निर्भर और सम्बद्ध हैं और जैसा कि द्वन्द्वात्मक प्रणाली ने सिद्ध किया है, यह परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता ही गतिशील पदार्थ (भूत) के विकास का नियम है। संसार को किसी 'व्यापक आत्मा' की आवश्यकता नहीं है, उसका विकास पदार्थ की गतिशीलता के नियमों के अनुकूल होता है।'

२—'आदर्शवाद केवल चित्त की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। उसके लिए प्रकृति या भौतिक जगत की सत्ता केवल हमारे चित्त में, इन्द्रिय बोध में, कल्पनाओं और संवेदनाओं में है। इसके प्रतिकूल मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शन का कहना है कि प्रकृति या भौतिक संसार की सत्ता एक वैज्ञानिक वास्तविकता है जो हमारे चित्त से बाहर और उससे स्वतंत्र है। पदार्थ (भूत) मूल है, क्योंकि वही संवेदनाओं, कल्पनाओं और चित्त का उद्गम है, चित्त गौण और उसी से उत्पन्न है क्योंकि वह पदार्थ का, सत्ता का प्रतिबिम्ब है। पदार्थ (भूत) विकसित होकर उच्च अवस्था में मस्तिष्क का रूप धारण करता है, विचारों की क्रिया मस्तिष्क द्वारा सम्पन्न होती है, इसलिए विचार पदार्थ जन्य हैं। विचारों को प्रकृति और पदार्थ से विच्छिन्न करना भारी भूल होगी।'

३—'आदर्शवाद संसार और उसके नियमों को जानने की सम्भावना को अस्वीकार करता है। वह हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता को भी स्वीकार नहीं करता। उसके लिए वस्तुगत सत्य नाम का कोई सत्य नहीं है। उसका विश्वास है कि संसार में ऐसे 'वस्तु सत्व' हैं जिनकी विज्ञान को कभी जानकारी नहीं हो सकती। मार्क्सीय दार्शनिक भौतिकवाद का कहना है कि संसार और उसके नियम पूर्ण रूप से बोध गम्य हैं, अभ्यास और प्रयोग की कसौटी पर परखा हुआ हमारा प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्रामाणिक है और वैज्ञानिक सत्य के समान निर्भ्रान्त। संसार में अज्ञेय कह कर कोई वस्तु नहीं है, अज्ञात वस्तुएं अवश्य हैं जो विज्ञान और अभ्यास द्वारा प्रकट होंगी और तब वे ज्ञेय हो जायंगी।'

●●●

तृतीय अध्याय

ऐतिहासिक भौतिकवाद

- ऐतिहासिक भौतिकवाद का परिचय।
- द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों का इतिहास पर आरोप।
- वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त।
- क्रान्ति का सिद्धान्त।
- सर्वहारा का एकाधिपत्य।
- वर्गविहीन समाज की धारणा।
- राजसत्ता का लोप।
- कम्युनिस्ट समाज की दो अवस्थाएँ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद का परिचय

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों का जब इतिहास पर आरोप किया जाता है तब उसे **ऐतिहासिक भौतिकवाद** कहते हैं। मार्क्स की एक बड़ी विशेषता इस बात में मानी जाती है कि उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को प्रकृति के क्रिया व्यापार तक ही सीमित नहीं रखा वरन् इनका उपयोग सामाजिक जीवन के विकास-क्रम को समझाने और उसकी व्याख्या करने के लिए किया। उसने इतिहास का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि **भौतिकवाद के जिन नियमों के अन्तर्गत प्रकृति का समस्त क्रिया व्यापार संचालित होता है उन्हीं नियमों के अन्तर्गत सामाजिक जीवन में भी विकास और परिवर्तन घटित होते हैं।** जिस प्रकार प्रकृति का सम्पूर्ण घटनाचक्र कार्य कारण के सूत्र में बंधा हुआ संश्लिष्ट और सुसम्बद्ध है उसी प्रकार इतिहास भी असम्बद्ध एवं आकस्मिक घटनाओं का संकलन मात्र न होकर कार्यकारण के सूत्र में बंधा हुआ एक सुसम्बद्ध घटना प्रवाह है। जिस प्रकार प्रकृति का रहस्य पूर्णतः ज्ञेय है उसी प्रकार इतिहास का रहस्य भी ज्ञेय है अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं और आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले नियमों को समझा जा सकता है और उनकी तर्क सम्मत व्याख्या की जा सकती है। **जिस प्रकार प्रकृति के विकास क्रम का अध्ययन एक विज्ञान है उसी प्रकार सुव्यवस्थित नियमों के द्वारा संचालित इतिहास के विकास-क्रम का अध्ययन भी एक विज्ञान है।**[1]

---

1. "Hence, social life, the history of society, ceases to be an agglomeration of 'accidents' and becomes the history of the development of society according to regular laws, and the study of the History of society becomes a science."

   J. Stalin—'Problems of Leninism', p. 578.

इतिहास पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों का आरोप करना मार्क्स का एक ऐसा युगान्तकारी अनुसंधान था जिसने आधुनिक विचारधारा में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी और एक संसार-व्यापी समाजवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया। इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार आर्थिक परिस्थितियां ही सामाजिक व्यवस्थाओं का मूलाधार हैं। ऐंगेल्स के शब्दों में "इतिहास सम्बन्धी भौतिकवादी धारणा से हमें यह शिक्षा मिलती है कि सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियों के मूल कारणों का पता लगाने के लिए हमें न तो मनुष्य के विचारों की समीक्षा करनी चाहिए और न शाश्वत सत्य और न्याय की खोज में व्यस्त उसकी अन्तर्दृष्टि की, बल्कि उसके लिए हमें ध्यान देना चाहिए उस युग की उत्पादन और विनिमय की प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों पर। सच तो यह है कि सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियों के कारण किसी युग के दार्शनिक विचारों में नहीं बल्कि उस युग की आर्थिक परिस्थितियों में पाए जा सकते हैं।"[१] सामाजिक संस्थाएं किस प्रकार फलती-फूलती हैं, उनका उद्गम क्या है, सामाजिक सत्ता और सामाजिक चेतना का सम्बन्ध क्या है, समाज के भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का पारस्परिक संबंध क्या है इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों का मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के प्रकाश में बड़ा ही तर्क सम्मत और वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया। मार्क्स से पहले और किसी ने भी इतिहास को इस दृष्टि से देखने का प्रयास नहीं किया था।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों का इतिहास पर आरोप

ऐतिहासिक भौतिकवादी धारणा के अनुसार प्रकृति के समान ही सामाजिक व्यवस्थाओं में भी समस्त परिवर्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों के अनुसार ही

१. फ्रेडरिक ऐंगेल्स—'समाजवाद : वैज्ञानिक और काल्पनिक', पृ० २९।

घटित होते हैं। द्वन्द्ववाद के प्रसंग में यह पहले ही कहा जा चुका है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में आन्तरिक असंगतियां विद्यमान हैं और इन असंगतियों अथवा विरोधी प्रवृत्तियों की संघर्षमयी एकता में ही प्रत्येक वस्तु की स्थिति है। विरोधी शक्तियों का यह संघर्ष ही विकास या परिवर्तन का मूल कारण है। संघर्ष की दशा में एक शक्ति दूसरी का प्रतिषेध करती है जिसके फलस्वरूप एक नयी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो पूर्ववर्ती अवस्था से अधिक उन्नत और उच्चस्तर की होती है। ठीक यही दशा सामाजिक विकासक्रम की भी है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था अपने गर्भ में आन्तरिक असंगतियों को लिए हुए आती है। इन असंगतियों का सम्बन्ध समाज की उत्पादन पद्धति के साथ होता है। मनुष्य अपने उत्पादन के ढंग में निरंतर सुधार और संशोधन करता रहता है। उत्पादन का बदला हुआ ढंग ऐसी शक्तियों और प्रवृत्तियों को जन्म देता है जिनका पूर्ववर्ती उत्पादन के ढंग पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं से सहज विरोध होता है। नई शक्तियों और पुराने सम्बन्धों का अथवा दूसरे शब्दों में प्रगति और प्रतिक्रिया का यह संघर्ष बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है जब कि परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। पुराने उत्पादन सम्बन्धों को नई उत्पादन शक्तियों के अनुकूल बनाने की बलवती मांग को लेकर बड़े-बड़े आन्दोलन और क्रान्तियां उठ खड़ी होती हैं. जिनके फलस्वरूप नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है। इसे हम मात्रा-भेद से गुण-भेद की अवस्था कह सकते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं में भौतिकवाद के सिद्धान्तों के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को उत्पादन पद्धति की सापेक्षता में ही देखा और समझा जा सकता है।

संसार के प्रत्येक प्राणी में जीवन और वृद्धि की इच्छा स्वभाव से ही विद्यमान है परन्तु जीवन और उसकी अभिवृद्धि तभी संभव हो सकती है जब जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री भी सुगमता पूर्वक प्राप्त होती रहे। जीवन निर्वाह की यह आवश्यक सामग्री हमें बाह्य प्रकृति से ही उपलब्ध होती है। परन्तु प्रकृति स्वतः हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नही करती। प्रकृति से आवश्यक सामग्री को प्राप्त करने के लिए हमें निश्चित प्रयत्न करना पड़ता है। प्रकृति की शक्तियों के प्रति जीवन रक्षा के इस निर्मम संघर्ष में परिश्रम और पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह अनुभव करता है कि अकेले रहने की अपेक्षा संघबद्ध होकर अपने परिश्रम को वह अधिक उपयोगी बना सकता है और जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री का सुगमता पूर्वक उत्पादन कर सकता है। उत्पादन की इस प्रक्रिया में वह एक ओर वाह्य प्रकृति से अपना संपर्क स्थापित करता है तो दूसरी ओर समाज

के अन्य व्यक्तियों से भी अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।[1] इस प्रकार उत्पादन प्रक्रिया ही सामाजिक संस्थाओं को जन्म देती है और उनका स्वरूप निर्धारित करती है। एंगेल्स के कथनानुसार "उत्पादन और उत्पादित वस्तुओं का विनिमय ही प्रत्येक समाज व्यवस्था का आधार है। इतिहास में जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाएं ईहु हैं उनमें से प्रत्येक की वितरण पद्धति और प्रत्येक का वर्ग विभाजन इस बात पर निर्भर रहा है कि उस समाज में क्या उत्पन्न होता है, कैसे उत्पन्न होता है और किस प्रकार उसका विनिमय होता है।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप निर्धारण में, उनके विचारों, मतों, राजनीतिक संस्थाओं आदि को निश्चित करने में, उनके उत्थान और पतन में समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों का विशेष हाथ रहता है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था को तथा उसके अंदर प्रतिफलित होने वाले आचार विचार, रीति नीति, कला कौशल, आदर्श आदि को उस समाज की भौतिक परिस्थितियों की सापेक्षता में ही देखा और समझा जा सकता है।[3] अतः

---

1. "In production men not only act on nature but also on one another. They produce only by cooperating in a certain way and mutually exchanging their activities. In order to produce they enter into definite connections and relations with one another and only within these social connections and relations does production, take place."

   Karl Marx—Selected Works Vol. I., P. 264.

२. फ्रेडरिक एंगेल्स—समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक, पृ० २६।

3. "........all the social and political relations, all religious and legal systems, all the theoritical outlooks which emerge in history are to be comprehended only when the material conditions of life of the respectively corresponding epochs are understood and the former are derived from these material conditions"—(Engels). Marx Engels Selected Works Vol. I. P. 334.

समाज का भौतिक जीवन एक वस्तुगत सत्य है, सामाजिक जीवन की जैसी परिस्थितियां होंगी, उस समाज के आचार विचार और आदर्श आदि भी उसी सांचे में ढल जायंगे।[1] "इसलिए समाज के आध्यात्मिक जीवन के मूल सूत्र को सामाजिक विचारों, सिद्धान्तों, राजनीतिक मतों और संस्थाओं के उद्गम को...... उन विचारों, मतों और राजनीतिक संस्थाओं में ही न खोजना चाहिए वरन् उन्हें समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों में, सामाजिक सत्ता में खोजना चाहिए जिनका कि ये विचार, सिद्धान्त, मत आदि प्रतिबिम्ब है।"[2] सामाजिक सत्ता की इसी प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए मार्क्स ने स्वयं कहा है कि मनुष्य की चेतना के द्वारा उसकी सत्ता का निर्धारण नहीं होता बल्कि इसके विपरीत उसकी चेतना ही सामाजिक सत्ता के द्वारा निर्धारित होती है।[3]

जहां तक समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियों का सम्बन्ध है, उनकी सीमा के अन्तर्गत भौगोलिक परिस्थितियां और जन संख्या आदि भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित हैं, परन्तु मार्क्स ने इन दोनो में से किसी को भी सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूप निर्धारण में नियामक कारण के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसमें संदेह नहीं कि प्रकृति ही समाज की स्थिति का मूलाधार है, बिना प्रकृति के समाज के भौतिक जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भौगोलिक परिस्थितियां किसी न किसी रूप में सामाजिक विकास को निरंतर प्रभावित करती रहती हैं परन्तु यह प्रभाव इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि भौगोलिक परिस्थितियों को ही समाज के विकास और परिवर्तन का प्रधान कारण माना जा सके। भौगोलिक परिस्थितियां परिवर्तन के प्रभाव से मुक्त तो नहीं हैं परन्तु उनके परिवर्तन की गति इतनी धीमी है कि कभी-

---

1. "Whatever is the being of a society, whatever are the conditions of material life of a society, such are the ideas, theories, political views and political institutions of that society."
Stalin—Problems of Leninism, P. 579.

२. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृ० १२५-१२६।

3. "It is not the consciousness of man that determines their being but on the contrary their social being that determines their consciousness."

Marx Engels Selected Works Vol. I, P. 329.

कभी हजारों और लाखों वर्षों के बीत जाने पर भी उनमें परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट दिखलाई नहीं देते जब कि सामाजिक व्यवस्था अपेक्षाकृत तीव्र गति से बदलती रहती है। दोनों की परिवर्तन की गति में किसी प्रकार का साम्य नहीं है। इसलिए स्तालिन के शब्दों में **"भौगोलिक परिस्थिति सामाजिक विकास का ऐसा कारण नहीं है जिसे मुख्य या नियामक कहा जा सके। जो वस्तु स्वयं हजारों लाखों वर्षों तक प्रायः अपरिवर्तित सी रहती है, वह कुछ शताब्दियों में आमूल परिवर्तित होने वाली वस्तु का मुख्य कारण नहीं बन सकती।"**[1]

जनसंख्या भी समाज के भौतिक जीवन का एक अनिवार्य उपकरण है। जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों के बिना समाज के भौतिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार जनता के बिना भी समाज का भौतिक जीवन असंभव और अकल्पनीय है। इसमें भी संदेह नहीं कि जन-संख्या वृद्धि भी समाज के विकास पर कुछ न कुछ मात्रा में अपना प्रभाव अवश्य डालती है परन्तु ऐतिहासिक भौतिकवादी मान्यता के अनुसार यह प्रभाव भी इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि उसे सामाजिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन का मूल कारण माना जा सके। यह एक निर्विवाद सत्य है कि कुछ देशों में जन-संख्या का घनत्व अधिक होते हुए भी वहां की सामाजिक व्यवस्थाएं अन्य देशों की तुलना में कई दर्जा पीछे हैं। "इससे यह सिद्ध होता है कि जन-संख्या में वृद्धि सामाजिक विकास की मुख्य शक्ति, समाज के रूप और सामाजिक व्यवस्था के लक्षणों की नियामक शक्ति नहीं है और न हो सकती है।"[2]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघ-बद्ध होकर और परिश्रम द्वारा उत्पादन की निश्चित प्रक्रिया में प्रवृत्त होकर प्रकृति से अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सामग्री को प्राप्त करता है। ऐतिहासिक भौतिकवादी मान्यता के अनुसार **भौतिक मूल्यों के उत्पादन की यह पद्धति ही प्रधान शक्ति है जो सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूप को निर्धारित करती है और उनके विकास एवं परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है।**[3] उत्पादन की यह पद्धति एक संश्लिष्ट

---

१. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृ० १२६।

२. वही, पृ० १३०।

3. "The mode of production of meterial life conditions the social political and intellectual life process in general." — Marx.
Marx Engels Selected Works Vol. I, P. 329.

प्रक्रिया है जिसके दो प्रधान पक्ष हैं—एक **उत्पादन शक्ति**[1] और दूसरे **उत्पादन सम्बन्ध**।[2] अतः **उत्पादन पद्धति को हम उत्पादन शक्तियों और सम्बन्धों की एकता का मूर्तरूप** भी कह सकते हैं।[3]

पैदावार के वे साधन जिनसे भौतिक मूल्यों का उत्पादन होता है अर्थात् नदी, वन, पर्वत, भूमि, खनिज पदार्थ आदि प्रकृति से प्राप्त होने वाले उपकरण और मनुष्य के द्वारा बनाए हुए अनेक प्रकार के यंत्र, कल कारखाने, रेल, तार जहाज इत्यादि तथा वे मनुष्य जो इन साधनों से काम लेते हैं मिल कर समाज की **उत्पादक शक्ति** कहलाते हैं। उत्पादन की क्रिया एक सामाजिक क्रिया होती है क्योंकि मनुष्य व्यक्तिगत रूप से नहीं वरन् एक दूसरे के साथ मिल कर, अर्थात् समाज में संगठित होकर ही पैदावार के साधनों का उपयोग करता है। ऐसी दशा में अपने ही समान उत्पादन क्रिया संलग्न, समाज के दूसरे व्यक्तियों से वह जो सम्बन्ध स्थापित कर लेता है उसी को **उत्पादन सम्बन्ध** कहा जाता है। **"ये सम्बन्ध शोषण मुक्त मनुष्यों में परस्पर सहायता और सहकारिता के सम्बन्ध हो सकते हैं। ये सम्बन्ध दासत्व और प्रभुत्व के हो सकते हैं। अंत में ऐसे भी हो सकते हैं जो उत्पादन सम्बन्धों के एक रूप से दूसरे रूप की ओर संक्रमण की दशा में हों। इन उत्पादन संबंधों का चाहे जो लक्षण हो, हर समय और हर सामाजिक व्यवस्था में वे उत्पादन के उतने ही महत्वपूर्ण उपकरण होंगे जितनी महत्वपूर्ण समाज की उत्पादन शक्तियां होंगी।"**[४]

मनुष्य अपने श्रम के भार को हलका करने के लिए और जीवन की सुख सामग्री को सुगमता पूर्वक प्राप्त करने के लिए अपनी बुद्धि के द्वारा तरह तरह के प्रयोग और

---

1. 'Production Forces.'

2. 'Relations of Production.'

3. Consequently production, the mode of production embraces both the productive forces of society and mens' relations of production, and is thus the embodiment of their unity in the process of production of material values".

   Stalin–Problems of Leninism, P. 584.

४. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृ० १३१।

आविष्कार करता रहता है जिसके फलस्वरूप उत्पादक शक्तियों का और विशेषकर पैदावार के साधनों का निरन्तर विकास होता रहता है। समाज की उत्पादक शक्तियों के आगे बढ़ जाने पर उत्पादन संबंधों में भी विकास और परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। जब तक उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के साथ अनुकूलता को प्राप्त नहीं कर लेते तब तक सामाजिक व्यवस्थाएं सुचारु रूप से नहीं चल पाती हैं। उनमें असंतोष और संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और वह संघर्ष उस समय तक चलता रहता है जब तक उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों का वैषम्य दूर नही हो जाता। **अतः एक न एक दिन उत्पादन संबंधों को समाज की विकासोन्मुखी उत्पादक शक्तियों के साथ आना ही पड़ता है।[1] वे स्थायी रूप से पिछड़ी हुई अवस्था में नहीं रह सकते।** उदाहरण के लिए हम वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को ही ले सकते हैं जिसमें उत्पादक शक्तियां बहुत विकसित हो चुकी हैं परन्तु उत्पादन सम्बन्ध अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई अवस्था में ही हैं, अर्थात् पूंजीवादी यान्त्रिक उत्पादन का स्वरूप तो सामाजिक है परन्तु उसके स्वामित्व और उपभोग का ढंग व्यक्तिगत है। पूंजीवादी व्यवस्था में समाज का बहुत बड़ा भाग मिल कर कल कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन करता है। परंतु उत्पादित वस्तुओं पर थोड़े से पूंजीपतियों का अधिकार हो जाता है और उत्पादन क्रिया में भाग लेने वाला विशाल जन समुदाय उनके उपभोग से वंचित रह जाता है। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की यह विषमता समाज में असंतोष, असमानता और संघर्ष को जन्म देती है और यह संघर्ष उस समय तक चलता रहता है जब तक कि समाजवादी व्यवस्था आकर पैदावार के साधनों को सामाजिक संपत्ति घोषित नहीं कर देती। उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों की इसी एकता और अनुकूलता की ओर संकेत करते हुए **एंगेल्स** ने लिखा था "अगर अधिकाधिक लोग अब यह अनुभव करने लगे हैं कि समाज की वर्तमान संस्थाएं न्यायहीन और अविवेकपूर्ण हैं, बुद्धि कुंठित हो गई है और अच्छे काम भी अभिशाप बन रहे हैं, तो यह केवल इस बात का लक्षण है कि उत्पादन और विनिमय प्रणाली में चुपचाप ऐसे परिवर्तन होते रहे हैं जिनका पुरानी आर्थिक अवस्थाओं पर आधारित समाज व्यवस्था से अब मेल नहीं रह गया। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि उत्पादन की बदली हुई परिस्थितियों में न्यूनाधिक विकसित रूप में वे साधन भी अवश्य मौजूद होंगे

---

1. "Whatever are the productive forces such must be the relations of production."

Stalin–Problems of Leninism, P. 587.

जिनसे इन प्रत्यक्ष बुराइयों का अंत किया जा सकता है। इन साधनों को मस्तिष्क के किसी कोने से नहीं निकाला जा सकता बल्कि मस्तिष्क की सहायता से उन्हें उत्पादन की विद्यमान भौतिक परिस्थितियों में ही खोजा जा सकता है।"[1] इस समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि **उत्पादक शक्तियां ही उत्पादन के विकास का नियामक तत्व हैं और उन्हीं को उत्पादन का सबसे गतिशील और क्रांतिकारी अंग समझना चाहिए।**[2]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि उत्पादन का ढंग कभी एकरस और स्थायी नहीं रहता। उसमें निरन्तर विकास और परिवर्तन होता रहता है। उत्पादन पद्धति के बदल जाने पर उससे सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। **"समाज के विकास का इतिहास मुख्यतः उत्पादन के विकास का इतिहास है।"**[3] यहां पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि पुरानी व्यवस्था के बदल जाने पर जब नई व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण करती है तो इस नई व्यवस्था में उत्पादक शक्तियां और उत्पादन सम्बन्ध भी नये सिरे से मनुष्य की इच्छानुसार उत्पन्न नहीं होते। उनका जन्म पुरानी व्यवस्था के गर्भ से ही होता है। मनुष्य जान बूझ कर प्रयत्न पूर्वक उन्हें मन माना रूप नहीं दे पाता। वे मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र अपने आप ही अपना स्वरूप निर्धारित करते और विकसित होते हैं।[4]

---

१. फ्रेडरिक ऐंगेल्स—'समाजवाद : वैज्ञानिक और काल्पनिक', पृ० २९-३०।

2. "Consequently the productive forces are not only the most mobile and revolutionary element in production, but are also the determining element in the development of production."

Stalin—Problems of Leninism, p. 586.

3. "..............the history of development of society is above all the history of the development of production............"

वही, पृ० ५८५।

4. "..............it takes place not as a result of the deliberate and conscious activity of man, but spontaneously, unconsciously, independently of the will of man."

J. Stalin—Problems of Leninism, p. 592.

इसका कारण यह है कि जब मनुष्य उत्पादन क्रिया में प्रवृत्त होता है तो अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से परम्परा के रूप में उसे जो उत्पादक शक्तियां और उत्पादन सम्बन्ध प्राप्त होते हैं उन्हीं को स्वीकार करके उसे आगे बढ़ना पड़ता है। वह अपने लिए अपनी इच्छानुकूल, उत्पादक शक्तियों और सम्बन्धों का चुनाव करने में स्वतंत्र नहीं होता। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि मनुष्य का इतिहास से कोई महत्व नहीं है और बुद्धि के वरदान से विभूषित होकर भी वह उत्पादक शक्तियों के हाथ की कठ-पुतली मात्र ही है। वास्तव में उसकी भावना और बौद्धिक चेतना भी सामाजिक घटनाक्रम के दिशा निर्धारण में अपना एक विशेष महत्व रखती है।

सामाजिक संस्थाएं भी तो मनुष्य की इच्छाओं और आकांक्षाओं का ही समग्रगत रूप हैं। मनुष्य के चेतन सहयोग और बौद्धिक प्रयास के बिना किसी भी सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। हां यह अवश्य है कि मनुष्य अपनी परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता अर्थात् उसका समस्त क्रिया व्यापार उन परिस्थितियों से प्रभावित और संचालित होता है जिनमें वह जन्म लेता है और अपने को घिरा हुआ पाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए **मार्क्स** ने कहा था—"**अपने इतिहास के निर्माण में मनुष्य का हाथ तो अवश्य रहता है परन्तु वह मनमाने ढंग से ऐसा नहीं करता। परिस्थितियों का मनोनुकूल चुनाव उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है, बल्कि बीता हुआ युग जाते-जाते जिन परिस्थितियों को छोड़ जाता है, उन्हीं के अन्तर्गत उसे यह सब करना पड़ता है।**"[1] अतः ऐतिहासिक भौतिकवाद यह बतलाता है कि किसी विशेष युग की विशेष परिस्थितियों में मनुष्य कुछ विशेष आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को क्यों अपनाते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए क्यों प्रयत्नशील होते हैं, दूसरे शब्दों में सामाजिक आन्दोलनों का मूल क्या है और उनके प्रभाव से सामाजिक व्यवस्थायें किस प्रकार बदलती है।

प्राचीन पंचायती व्यवस्था के अन्तर्गत कबीलों में रहने वाला अर्द्ध सभ्य मनुष्य अपने लकड़ी और पत्थर के औजारों की सहायता से जीवन निर्वाह के लिए जो कुछ

---

1. "Men make their own history, but they do not make it just as they please, they do not make it under circumtances chosen by themselves but under circumtances directly encountered, given and transmitted from the past"—Marx

Marx Engels Selected Works Vol. I, p. 225.

लाता था उसका उपभोग कबीले के सब लोग मिल बांट कर करते थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना नहीं थी और उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार था। आगे चल कर जब मनुष्य ने पशुपालन और खेती आदि को सीखा और धातु के तरह तरह के औजारों का प्रयोग करने लगा तो उत्पादन के इस बदले हुए ढंग ने दास व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें उत्पादन के साधनों पर दासस्वामियों का अधिकार होता था। पराजित शत्रुओं को दास बना कर उनसे परिश्रम कराया जाता था और पशुओं के समान उनका क्रय विक्रय होता था। इस प्रकार व्यक्तिगत संपत्ति का उदय हुआ। जब कृषि और उद्योग धन्धों का और अधिक विकास हुआ और दासों की संख्या बहुत बढ़ गई तो उन्हें जमीन देकर उनसे खेती कराई जाने लगी। निर्वाह के लिए उपज का एक भाग भी उन्हें मिलने लगा। उत्पादन के इस बदले हुए ढंग ने सामंतवादी व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें उत्पादन के साधनों पर सामंत का अधिकार होता था। सामंतवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग धन्धों का भी विकास हुआ और धीरे धीरे एक अवस्था ऐसी आई कि कल-कारखानों की सहायता से बड़े पैमाने पर माल का उत्पादन होने लगा। उत्पादन के इस बदले हुए ढंग के फलस्वरूप पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ जिसमें उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति का अधिकार होता है परन्तु उत्पादन में काम करने वाले मजदूरों पर नहीं। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों के अधिकाधिक विकसित हो जाने तथा सामुहिक उत्पादन और व्यक्तिगत स्वामित्व के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली असंगतियों के अत्यधिक तीव्र हो जाने और साथ ही मजदूर वर्ग के सजग और संगठित हो जाने से समाजवादी व्यवस्था का उदय हुआ जिसमें उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होता है। मोटे रूप में उत्पादन पद्धति पर आधारित सामाजिक व्यवस्थाओं के विकास और परिवर्तन की रूपरेखा ऐसी ही है।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त

सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति का माध्यम मनुष्य ही है, अतः उत्पादक-शक्तियों और उत्पादन संबंधों की विरोधी प्रवृत्तियों का संघर्ष भी समाज में

विभिन्न श्रेणियों के संघर्ष के रूप में ही व्यक्त होता है। उत्पादन के ढंग में परिवर्तन उपस्थित होते ही समाज में नई श्रेणियां भी उत्पन्न हो जाती हैं। इस तरह श्रेणियों का सीधा सम्बन्ध उत्पादन पद्धति अथवा समाज के आर्थिक आधार के साथ है। इतिहास की व्याख्या करने के लिए इसी बात को और स्पष्ट करके हम इस तरह कह सकते हैं कि मनुष्य की कृतियां ही इतिहास का निर्माण करती हैं। कर्म इच्छाओं के द्वारा संचालित होते हैं। इच्छाएं विचारों का प्रतिरूप हैं। विचार मनुष्य की उन सामाजिक परिस्थितियों का ही प्रतिबिम्ब हैं जिनके अन्तर्गत वह रहता है और जो उसे हर समय घेरे रहती हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पादन के ढंग अथवा आर्थिक परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित होती हैं। आर्थिक परिस्थितियां ही समाज में विभिन्न श्रेणियों और उनके संघर्षों के स्वरूप को निर्धारित करती हैं। अतः इतिहास की व्याख्या के लिए आर्थिक परिस्थितियों पर आधारित श्रेणी संघर्ष की व्याख्या भी आवश्यक हो जाती है। इतिहास के अध्ययन से वर्ग संघर्ष की इसी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए ऐंगेल्स ने लिखा है " **आधुनिक इतिहास में कम से कम यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि समस्त राजनीतिक संघर्ष वास्तव में वर्ग-संघर्ष ही है। और स्वतंत्रता के लिए चलने वाले वर्गों के यह समस्त संघर्ष अपने विशिष्ट राजनीतिक स्वरूप को रखते हुए भी—क्योंकि प्रत्येक वर्ग संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है—अंततः आर्थिक स्वतंत्रता के प्रश्न से ही जुड़े हुए हैं।**"[1] अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '**समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक**' में भी इसी विषय पर प्रकाश डालते हुए ऐंगेल्स ने लिखा है—"**आदिम समाजवाद को छोड़कर मानव जाति का सारा अतीत इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है और हर समाज के घसंर्षशील वर्ग उस काल के उत्पादन और विनिमय की अवस्थाओं से या एक शब्द में कहें तो उस काल की आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं।**"[2]

---

1. In modern history at least it is therefore proved that all political struggles are class struggles, and all class struggles for emancipation in the last resort, despite their necessarily political from—for every class struggle is a political struggle—turn ultimately on the question of economic emancipation."

   F. Engels--Ludwig Feuerbach and the Outcome of Classical German Philosophy, P, 61.

२. फ़्रेडरिक ऐंगेल्स—समाजवाद वैज्ञानिक और काल्पनिक, पृ० २७-२८।

द्वन्द्ववाद के नियमों के अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवस्था की आन्तरिक असंगतियों से परिचित होने के लिए सबसे पहले हमें उसके वर्ग-संघर्ष की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि **वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक असंगतियों की अभिव्यक्ति का प्रधान साध्यम है।** इससे हमें यह संकेत भी मिल जाता है कि जिस सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन सम्बन्धी असंगतियां नहीं होंगी उसमें किसी प्रकार का वर्ग संघर्ष भी नहीं होगा। उदाहरण के लिए हम आदिम पंचायती व्यवस्था को ही ले सकते हैं जिसमें किसी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति की भावना नहीं थी और काम करने वालों में भी किसी प्रकार की श्रेणियां न थीं। उत्पादन का ढंग सामूहिक था तो उत्पादित वस्तुओं का उपभोग भी सामूहिक रूप से ही होता था, अर्थात कबीले के लोग जीवन निर्वाह के लिए मिलजुल कर जो कुछ लाते थे उसका उपभोग भी सब लोग बिना किसी भेदभाव के आवश्यकतानुसार मिलजुल कर करते थे। इसीलिए **ऐंगेल्स** ने इस व्यवस्था को **'आदिम कम्युनिज्म'**[1] कहा है। इससे हमें यह संकेत भी मिल जाता है कि उत्पादन पद्धति में असंगतियों के न होने से भावी कम्युनिस्ट समाज में भी किसी प्रकार का वर्ग संघर्ष नहीं होगा।

समाज मे श्रेणियां न तो हमेशा से रही हैं और न हमेशा रहेंगी। आदिम पंचायती व्यवस्था के समाप्त हो जाने पर समाज में जब से श्रेणियों का आविर्भाव हुआ है तब से लेकर वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था तक कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रूप से विरोधी श्रेणियों का संघर्ष निरन्तर चलता चला आ रहा है। **मार्क्स** और **ऐंगेल्स** ने अपने प्रसिद्ध **'कम्युनिस्ट घोषणापत्र'** में लिखा है **"स्वतंत्र मनुष्य और दास, अभिजात वर्ग और साधारण प्रजा, (पेट्रीशियन और प्लेबियन) सामन्त और उसके कम्मी, शिल्प संघ के मालिक और मजदूर कारीगर—संक्षेप में पीड़क और पीड़ित सदा से एक दूसरे का विरोध करते आए हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक दूसरे से लड़ते रहे हैं। ऐसी लड़ाई का अंत हर बार या तो समाज का सारा ढांचा**

---

1. "In all the earlier stages of society production was essentially in common, there was not a class, a category of workers, and another class. The consumption of the goods produced by men was also in common. That is 'primitive communism.'"

F. Engels—Quoted by George Palitzer in "An Elementary Course in Philosophy," P. 188.

बदलने में हुआ है या लड़ने वाले दोनों वर्गों की बर्बादी में हुआ है।"[1] कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे उत्पादन पद्धति में परिवर्तन उपस्थित होता रहा है उसी के अनुसार समय-समय पर श्रेणियों का स्वरूप तो अवश्य बदलता रहा है परन्तु उनके संघर्ष का अंत नहीं हो सका है। प्रत्येक सामाजिक क्रान्ति ने जहां एक वर्ग संघर्ष का समाधान किया है वहां उसने दूसरे वर्ग को, और दूसरे प्रकार के वर्ग संघर्ष को जन्म भी दिया है। दास व्यवस्था से लेकर पूंजीवादी व्यवस्था तक यही क्रम चलता रहा है।

मोटे रूप में देखने पर तो हमें प्रत्येक समाज में अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार की श्रेणियाँ दिखलाई देती हैं परन्तु मार्क्सवादी धारणा के अनुसार श्रेणी या वर्ग हम उन्ही व्यक्तियों के समूह को कह सकते हैं जो उत्पादन में एक ही तरह का काम करते हों और जिनके आर्थिक हित भी एक जैसे ही हों। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो दास व्यवस्था से लेकर अब तक केवल दो ही प्रधान संघर्षशील श्रेणियां दिखलाई देती हैं–एक **शोषक** और दूसरे **शोषित**। आर्थिक हितों की दृष्टि से शेष समस्त वर्गों का समाहार इन्हीं दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत ही हो जाता है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में यह विभाजन और भी तीव्र और स्पष्ट हो गया है जिसमें एक ओर तो थोड़े से पूंजीपति हैं जिनके हाथों में समस्त उत्पादन के साधन और सामाजिक सम्पति केन्द्रित होती जा रही है और दूसरी ओर विशाल जन-समुदाय है जिसके पास अपनी श्रम शक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बचा है। इन दो बड़े वर्गों के बीच में आज कल एक और वर्ग भी है जिसे **'मध्यम वर्ग'** कहा जाता है। वास्तव में यह मध्यम-वर्ग कोई स्वतंत्र वर्ग नहीं है क्योंकि इस वर्ग के कुछ लोगों को, जिन्हें किसी प्रकार धनोपार्जन का अवसर मिल जाता है, संपत्तिशाली बन कर शोषक वर्ग में मिल जाते हैं और अधिकांश व्यक्ति गरीबी और बेरोजगारी का शिकार बन कर सर्वहारा में मिल जाते हैं।

आदिम पंचायती व्यवस्था का श्रेणी विहीन समाज आगे चल कर किस तरह श्रेणियों में विभाजित हो गया, इसका भी एक मनोरंजक इतिहास है। कबीलों में रहने वाले आरम्भ के अर्द्ध-सभ्य मनुष्य के पास लकड़ी और पत्थर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था परन्तु सभ्यता के सोपान पर वह जैसे जैसे आगे बढ़ता गया, उसने पशुओं को पालना, खेती करना, धातुओं के तरह तरह के औजार और बर्तन आदि

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', पृ० ३३-३४।

बनाना भी सीखा। उत्पादन के इस बदले हुए ढंग ने समाज के स्वरूप को ही बदल दिया। अलग अलग कबीले अलग अलग पेशों को अपनाने लगे। कोई पशु पालने लगा, कोई खेती करने लगा तो कोई औजार आदि बनाने लगा। जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तिजारत के रूप में कबीलों में वस्तुओं की अदला बदली भी होने लगी क्योंकि काम का विभाजन हो जाने से कोई भी कबीला अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुओं का उत्पादन स्वयं नहीं कर पाता था। इस प्रकार तिजारत का सूत्रपात हुआ। तिजारत की मांग को पूरा करने के लिए अधिकाधिक उत्पादन और उसके लिए अधिकाधिक परिश्रम की भी आवश्यकता पड़ने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति कबीलों की आपसी लड़ाइयों में पराजित शत्रुओं को गुलाम बना कर और उनसे परिश्रम करवा कर की जाने लगी।[1] इस प्रकार सामाजिक काम के बटवारे ने समाज को ही दो श्रेणियों में बांट दिया। एक श्रेणी उन लोगों की थी जो दूसरों से काम करवा कर उसका लाभ स्वयं उठाते थे और दूसरी उन लोगों की थी जो दूसरों के लिए काम करने को विवश थे। एक श्रेणी **शोषकों** की थी दूसरी **शोषितों** की। यहीं से समाज में सर्व प्रथम श्रेणियों का आरम्भ होता है।[2]

इस दास प्रथा के अन्तर्गत दासस्वामियों का अपने दासों पर वैसा ही अधिकार होता था जैसा हमें किसी पाले हुए पशु पर होता है। जिस प्रकार हम अपने पाले हुए पशु को जब चाहें तब बेंच सकते हैं और उसे जो चाहें वह दंड दे सकते हैं उसी तरह

---

1. "At the same time it increased the amount of work that daily fell to the lot of every member of the gens or household community or single family. The addition of more labour power became desirable. This was furnished by war, captives were made slaves."

   Engels—'Origin of Family Private Property and State !
   Marx Engels Selected Works Vol. II, p. 281.

2. "Out of the first great social division of labour arose the first great division of society into two classes, masters and slaves, exploiters and exploited."

   वही, पृ० २८१।

दासस्वामी भी अपने दासों को इच्छानुसार बेच सकते थे और प्राण दंड भी दे सकते थे। जिस प्रकार पशुओं से काम लेने के लिए उन्हें खाना देना आवश्यक होता है उसी तरह दास स्वामी भी अपने अपने दासों को खाना देने पर विवश थे। पशुओं की तरह दास भी स्वामी की संपत्ति का ही एक अंग थे। जिसके पास जितने अधिक दास थे वह उतना ही अधिक संपत्तिशाली समझा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर गुलामों को पकड़ने के लिए ही युद्ध होने लगे और उनकी संख्या दिन पर दिन बढ़ने लगी। बाजारों में बड़ी संख्या में खुले आम दासों का क्रय विक्रय होने लगा। कहा जाता है कि उस युग में यूनान के ऐथेन्स नगर में ही दासों की संख्या तीन लाख पैंसठ हजार तक थी। कोरिन्थ और एजिना में क्रमश: चार लाख साठ हजार और चार लाख सत्तर हजार दास विद्यमान थे। यह संख्या मालिकों की अपेक्षा दस गुना अधिक थी। इस प्रकार दासों की संख्या बहुत बढ़ जाने से उनका जीवन भी बहुत सस्ता हो गया। अंत में अत्याचारों से ऊब कर उन्होंने बड़े बड़े विद्रोह किए जिसके फलस्वरूप दास प्रथा का अंत हो गया।

दास प्रथा के समाप्त हो जाने पर सामन्तवादी प्रथा ने उसका स्थान लिया। इस सामन्तवादी व्यवस्था में भी शोषण का अन्त नहीं हो सका। इसने नई श्रेणियों को जन्म दिया और श्रेणी-संघर्ष और शोषण को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। एक श्रेणी थी जमीन के मालिकों अथवा सामंतों की और दूसरी जमीन पर काम करने वाले कृषक दासों की। किसान जमीन के साथ बंधा हुआ माना जाता था। खेत छोड़ कर भाग जाना कानून की दृष्टि से एक दण्डनीय अपराध था। जिस प्रकार जमींन बेचते समय उस पर उगा हुआ वृक्ष भी बिक जाता है उसी प्रकार खेत के साथ-साथ उसे जोतने वाला किसान भी बिक जाता था और उसका संबंध दूसरे मालिक के साथ हो जाता था। आगे चल कर जमींदारों ने किसानों से जमीन निकाल कर सीरें भी कायम की जिन पर काम करने के लिए किसानों को मजबूर किया जाने लगा। इस प्रकार बेगार की प्रथा भी चल निकली। किसानों के अतिरिक्त सौदागरों का एक वर्ग था जो धीरे धीरे उन्नति कर रहा था। जमींदार सौदागरों से अपने आराम की चीजें खरीदते रहते थे जिसके लिए उन्हें अधिकाधिक धन की आवश्यकता पड़ती थी। जैसे

---

1. 'Origin of Family Private Property and State.'—Footnote by Engels.

Marx Engels Selected Works Vol, II (Moscow 1949), p. 287.

जैसे जमींदारों की आवश्यकताएं बढ़ती जाती थीं उसी अनुपात में किसानों का शोषण भी बढ़ता जाता था। इस बढ़ते हुए शोषण और लूट के खिलाफ किसानों ने भी विद्रोह का रास्ता पकड़ा। लगभग हर देश में सामंतवादी प्रथा के खिलाफ किसान विद्रोह हुए।

सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त करने में उस समय के उभरते हुए, महत्वाकांक्षी पूंजीपति वर्ग ने भी बहुत सहयोग दिया। इसका कारण यह था कि पूंजीपतियों को अपने कल-कारखानों में काम करने के लिए स्वतंत्र मजदूरों की आवश्यकता थी और यह आवश्यकता तभी पूरी हो सकती थी जब किसानों को सामन्तों के परम्परागत बन्धन से मुक्त किया जाता। फलतः सामन्तों के विरुद्ध किसानों के इस विद्रोह में यह पूँजीपति उनके अगुआ बन गए और अपनी स्थिति से लाभ उठा कर उन्होंने सामन्तवादी व्यवस्था को मिटा कर एक नवीन पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया।

इस प्रकार "आधुनिक पूंजीवादी समाज सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है। उसने समाज के वर्ग विरोधों को खतम नहीं किया है। उसने पुराने वर्गों के स्थान पर नये वर्ग, पीड़न के पुराने तरीकों के बदले नये तरीके और संघर्ष के पुराने स्वरूपों की जगह नये स्वरूप खड़े कर दिए हैं।"[1] एक श्रेणी उन पूंजीपतियों की है जो कच्चे माल तथा कल कारखानों, खानों, और फारमों के मालिक हैं इसके विपरीत दूसरी श्रेणी उस विशाल सर्वहारा मजदूर वर्ग की है जिसके पास अपनी श्रमशक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पूंजीपति अपनी पूंजी के बल पर मजदूरों की श्रम शक्ति को मनमाने ढंग से खरीद कर उनका शोषण करता है जिसका विस्तारपूर्वक उल्लेख हम आगे चलकर मार्क्सवाद के आर्थिक पक्ष के प्रसंग में करेंगे। पूंजीवादी शोषण और पूर्ववर्ती शोषण पद्धतियों का अंतर केवल यही है कि जहाँ दास और सामन्तवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत शोषण प्रत्यक्षरूप से होता था वहां पूंजीवादी समाज में अप्रत्यक्ष अर्थात छिपे तौर पर होता है। कहने के लिए तो मजदूर पूरी तरह स्वतंत्र है। आज वह सामन्तवादी युग के किसान की तरह किसी मालिक से बंधा नहीं है। परन्तु वास्तव में उसकी यह स्वतंत्रता एक कृत्रिम स्वतंत्रता है क्योंकि कच्चे माल और औजारों के अभाव में जीवन निर्वाह के लिए वह अपनी श्रमशक्ति को बेचने के लिए विवश है। दासस्वामी तो अपने दासों को खाना देने के लिए विवश थे क्योंकि उनके मरने से स्वामी की सम्पत्ति घटती थी, सामन्त भी अपने किसानों से काम लेने के लिए उनके जीवन निर्वाह के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध करते ही थे परन्तु आज का

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र पृ० ३४।

पूजीपति इस उत्तरदायित्व से भी मुक्त है। मजदूर जहां चाहे वहां काम करने के लिए स्वतंत्र है और काम न मिलने पर भूखों मरने के लिए भी स्वतंत्र है। पूजीपति इन बातों की चिन्ता नहीं करता। इसलिए पूंजीवादी शोषण अन्य समस्त शोषण पद्धतियों की अपेक्षा अधिक भीषण एवं कठोर है। जहां तक श्रेणियों का और श्रेणी संघर्ष का सम्बन्ध है **दूसरे युगों की तुलना में हमारे युग की—पूंजीवादी युग की—विशेषता यह है कि वर्ग विरोधों को इसने सीधा सादा बना दिया है। आज पूरा समाज दिनों दिन दो विशाल प्रतिस्पर्द्धी शिवरों में, एक दूसरे के खिलाफ खड़े दो विशाल वर्गों में, पूंजीपतियों और मजदूरों में बंटता जा रहा है।**[1]

दास व्यवस्था से लेकर वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था तक का सम्पूर्ण इतिहास वास्तव में वर्ग संघर्षों का ही इतिहास है। मार्क्सवाद इस वर्ग संघर्ष का न तो समर्थन ही करता है और न उसे आगे बढ़ाना चाहता है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार वर्ग-संघर्ष आधुनिक समाज का एक असाध्य रोग है जिसका विष समाज के सम्पूर्ण अंगों में व्याप्त हो चुका है। इसीलिए आज समाज में सर्वत्र अव्यवस्था और अविश्वास, हिंसा और कलह, दुःख और दरिद्रता फैली हुई दिखलाई देती है। वर्तमान पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ही इस प्रकार की है, जिसके अंतर्गत आधुनिक समाज के दो प्रधान वर्गों—पूजीपतियों और मजदूरों—का संघर्ष अनिवार्य हो जाता है।[2] अतः **मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष का विरोध करता है और सामाजिक दोषों के परिष्कार के लिए**

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र पृ० ३४-३५।

2. "Communists and socialists do not cause, advocate or like the class struggle, on the contrary they diagnose the class struggle. They diagnose the class struggle as the essential and incurable sickness of the modern society. The existing economic system impels the two main classes of modern society into conflict with one another. This is the reason why men are starving, clubbing, shooting and sometimes torturing each-other."

John Strachey—'The Theory and Practice of Socialism', P. 403.

एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना को अनिवार्य समझता है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि मार्क्सवाद वर्ग संघर्ष का विरोधी होते हुए भी न तो वह उसके वास्तविक स्वरूप पर किसी प्रकार का परदा डालना ही उचित समझता है और न वर्ग-संघर्ष को घटाने के लिए पूंजीपतियों से किसी प्रकार का समझौता ही करना चाहता है। इसके विपरीत वह वर्ग-चेतना का अधिकाधिक प्रचार करके वर्ग संघर्ष को उसके अंतिम परिणाम तक ले जाना चाहता है।[1]

क्रान्ति का सिद्धान्त

सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए उसके मूल कारणों का पता लगाना और उन परिस्थितियों से परिचित होना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार किसी रोग से मुक्ति पाने के लिए उसके निदान एवं कारणों का जानना। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रख कर वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रकाश में मार्क्सवाद सामाजिक विषमताओं की व्याख्या करता है। उसकी धारणा के अनुसार **वर्तमान पूंजीवादी समाज में उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों की असंगतियों के फलस्वरूप ही वर्ग-संघर्ष और तज्जन्य अव्यवस्था छाई हुई है।** अतः समाज को उस वर्ग संघर्ष से मुक्त करने के लिए वह मजदूरों का संगठन करता है, उनकी यूनियनें बनाता है और हर संभव उपाय द्वारा उनके अन्दर वर्ग चेतना का संचार करता है। पूंजीवादी शोषण के

---

1. "Hence we must not cover up the contradictions of the capitalist system, but disclose and unravel them; we must not try to check the class struggle but carry it to its conclusion."

J. Stalin—'Problems of Lininism', P. 475.

स्वाभाविक किन्तु गुप्त रहने वाले लक्षणों को पूरी तरह प्रकाश में लाता है।[1] ऐंगल्स के शब्दों में वह इस धारणा को लेकर चलता है कि "ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित अवस्था में पूंजीवाद का उत्पन्न होना नितान्त अनिवार्य है और इसलिए (उस अवस्था के परिपक्व हो जाने के बाद) उसका पतन भी निश्चित है।"[1] उसका विश्वास है कि श्रेणी सजग मजदूर वर्ग ही अपने व्यापक एवं दृढ़ संगठन के आधार पर एक ऐसी क्रान्ति का आयोजन करने में सफल हो सकेगा जिसके द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके एक नवीन श्रेणी-विहीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जा सके।

सामाजिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन के लिए मार्क्सवाद सुधारवादी उपायों में किसी प्रकार की आस्था नहीं रखता है। वह क्रान्ति का पोषक है और उसकी यह क्रान्तिवादिता द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है। द्वन्द्ववाद के प्रसंग में मात्रा भेद से गुण भेद के नियम की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि पहले धीरे धीरे मात्रा में वृद्धि होती रहती है और फिर मात्रा वृद्धि की ऐसी चरम अवस्था आती है जहां पर पहुंच कर एकाएक गुणात्मक परिवर्तन घटित होता है और एक नवीन स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक परिवर्तन भी इस नियम का अपवाद नहीं है। आन्तरिक विरोधों पर आधारित किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत पहले तो शोषित वर्ग में असंतोष की मात्रा धीरे धीरे बढ़ती रहती है और फिर एक ऐसी चरम स्थिति आती है जहां पर पहुंच कर यह असंतोष एक भीषण क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है। यह क्रान्ति भी वास्तव में गुणात्मक परिवर्तन की प्रतीक होती है जिसके फलस्वरूप पुरानी सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है। "एक निश्चित

---

1. "What communists and socialists do is to bring this struggle and its causes into consciousness in order to end it. It is precisely, because they regard the class struggle as the most frightful evil of our time, that they turn the searchlight of scientific analysis upon it."

John Strachey—The Theory and Practice of socialism, P. 405

१. फ्रेडरिक ऐंगेल्स—'समाजवाद : वैज्ञानिक और काल्पनिक', पृ० २८।

समय तक उत्पादन शक्तियों का विकास और उत्पादन-सम्बन्धों के क्षेत्र में परिवर्तन अपने आप मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र हुआ करता है। परन्तु ऐसा एक निश्चित समय तक ही होता है जब तक कि नई और विकासमान उत्पादन-शक्तियां बढ़कर अच्छी तरह पुष्ट नहीं हो जातीं। नई उत्पादन शक्तियों के पुष्ट हो जाने पर उनकी राह में एक 'हिमालय जैसी' बाधा खड़ी हो जाती है। यह बाधा और कुछ नहीं, विद्यमान उत्पादन सम्बन्ध और उनके समर्थक शासक वर्ग हैं। नये वर्गों की सचेत क्रिया से उनके बलपूर्वक कार्य करने से, अर्थात् क्रान्ति से ही यह हिमालय जैसी बाधा दूर की जा सकती है। यहां पर नये सामाजिक विचारों की, नई राजनीतिक शक्ति की—जिसका ध्येय ही उत्पादन के पुराने सम्बन्धों में बलपूर्वक परिवर्तन करना हो—महान भूमिका हमें बहुत स्पष्ट आकार प्रकार में दिखाई देने लगती है। नई उत्पादक शक्तियों और पुराने उत्पादन सम्बन्धों के संघर्ष से और समाज की नई आर्थिक मांगों से नए सामाजिक विचारों का जन्म होता है। ये नये विचार जन साधारण को समेटते और संगठित करते हैं। जनता एक नई राजनीतिक सेना में संगठित हो जाती है और एक नई क्रान्तिकारी शक्ति उत्पन्न करती है। इस शक्ति का उपयोग वह पुराने उत्पादन सम्बन्धों का बलपूर्वक नाश करने के लिए और दृढ़ता से नई व्यवस्था कायम करने के लिए करती है। अपने आप होने वाली प्रगति की जगह मनुष्यों की सचेत कार्यवाही ले लेती है। शान्तिमय प्रगति के बदले बलपूर्वक परिवर्तन किए जाते हैं। सामाजिक विकास की शान्ति के बदले क्रान्ति की ज्वाला धधक उठती है।"[1] **मार्क्स** ने क्रान्ति के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि **जब पुरानी सामाजिक व्यवस्था के गर्भ में एक नई सामाजिक व्यवस्था परिपक्व हो जाती है तब उसके जन्म के लिए शक्ति रूपी धाय की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है।**[2]

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था की असंगतियां भी बढ़ते-बढ़ते आज एक ऐसी सीमा पर पहुंच गई हैं जहां गुणात्मक परिवर्तन आवश्यक हो गया है। कुछ देशों में सफल क्रान्तियों के फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था की स्थापना भी हो चुकी है। मार्क्सवादी

---

१. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृ० १४०-१४१।

2. "Force is the midwife of every old society pregnant with a new one,"

Karl Marx, as quoted by J. Stalin 'Problems of Leninism' P. 594.

धारणा के अनुसार यह परिवर्तन श्रेणी सजग सुसंगठित मजदूर वर्ग के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है क्योंकि पूंजीपतियों के विरुद्ध आज जितने भी वर्ग हैं उनमें केवल मजदूर वर्ग ही वास्तविक अर्थों में एक क्रान्तिकारी वर्ग है। प्रसिद्ध कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है कि "आधुनिक पूंजीवादी समाज ने उत्पादन और विनिमय के विशाल साधनों को जादू की तरह जन्म तो दे दिया है, लेकिन उत्पादन, विनिमय और सम्पत्ति की उसकी व्यवस्था उन्हें संभाल नहीं पाती। वह एक ऐसे जादूगर के समान है जिसने अपने जादू के जोर से इन शक्तियों को भौतिक जगत में बुला तो लिया है, लेकिन अब उन्हें काबू रखने में असमर्थ है।"[1] फलतः "जिन हथियारों से पूंजीपति वर्ग ने सामंतवाद का अंत किया था वे ही हथियार आज उसके खिलाफ़ तन गए हैं। लेकिन पूंजीपति वर्ग ने केवल ऐसे हथियारों को ही नहीं गढ़ा है जो उसका अंत कर देंगे, बल्कि उसने ऐसे आदमियों को भी पैदा कर दिया है जो इन हथियारों का इस्तेमाल करेंगे। वे हैं आज के मजदूर वर्ग, सर्वहारा वर्ग के लोग।"[2] सर्वहारा के हाथों पूंजीपति की पराजय अवश्यम्भावी है क्योंकि आज पूंजीपति वर्ग अपनी ही रची हुई सृष्टि में इस तरह उलझ गया है कि जिससे त्राण पाने का अब कोई उपाय उसके पास शेष नहीं है। जाल में फंसे हुए पशु की तरह वह जितना ही बचने का प्रयत्न करता है उतना ही और फंसता जाता है। उसकी सब से बड़ी विवशता इस बात में है कि अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उसे एक साथ दो शत्रुओं से युद्ध करना पड़ता है। एक ओर तो पूंजीपतियों में माल की खपत और बाजारों के लिए आपसी होड़ और स्पर्द्धा चलती रहती है तो दूसरी ओर संगठित मजदूर वर्ग के साथ उसका निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। मत्स्य न्याय के अनुसार बड़ा पूंजीपति छोटे पूंजीपति को हड़प लेना चाहता है। अस्तित्व रक्षा की इस होड़ में पूंजीपति न चाहते हुए भी उद्योग धन्धों की उन्नति करने, अधिक काम करने वाली मशीनों को लगा कर मजदूरों की छटनी करने और उनकी मजदूरी कम करके उनका अधिकाधिक शोषण करने के लिए बाध्य हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर पूंजीपतियों की संख्या घटती जाती है तो दूसरी ओर मजदूरों और बेरोजगारों की संख्या निरन्तर बढ़ती चली जाती है। यह वृद्धिमान सर्वहारा वर्ग संगठित होकर अपने हितों की रक्षा के लिए पूंजीपतियों से लड़ाइयां भी लड़ता रहता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीपति अपने शत्रुओं को संगठित होने

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र पृ० ४१-४२।

२. वही, पृ० ४३।

और लड़ने की शिक्षा भी दे देता है। इसी बात को दृष्टि में रख कर **मार्क्स और** एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में कहा है कि **"पूंजीपति वर्ग जो सबसे बड़ी चीज** पैदा करता है, वह है **उन लोगों का वर्ग जो स्वयं उसी की कब्र खोदेंगे। उसका पतन** और मजदूर वर्ग की विजय, **दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं।"**[1]

यदि धीरे धीरे होने वाले मात्रा भेद से अकस्मात गुणात्मक परिवर्तन का घटित होना द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास का एक अटल नियम है तो फिर इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दलित और शोषित वर्ग के द्वारा की गई क्रान्ति भी सामाजिक विकास की ही एक स्वाभाविक घटना है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पूंजीवादी शोषण से मजदूर वर्ग की मुक्ति और पूंजीवादी व्यवस्था का समाजवादी व्यवस्था में परिवर्तन भी धीरे धीरे सुधारवादी उपायों द्वारा नहीं हो सकता है बल्कि क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था के अकस्मात गुणात्मक परिवर्तन से ही सम्भव हो सकता है।[2]

---

1. "What the bourgeoisie, therefore, produces, above all are its own grave-diggers. Its fall and the victory of the proletariat are equally inevitable.'

   Marx Engles Selected Works Vol. I, p. 43.

2. "................ the transition from capitalism to socialism and the liberation of the working class from the yoke of capitalism cannot be effected by slow changes, by reforms, but only by a qualitative change of the capitalist system, by revolution."

   J. Stalin—Problems of Leninism, p. 574.

सर्वहारा का एकाधिपत्य

मार्क्सवाद क्रान्ति का समर्थक अवश्य है परन्तु निरुद्देश्य क्रांति का नहीं। **प्रतिषेध के प्रतिषेध** के नियम की व्याख्या करते हुए यह कहा जा चुका है कि आन्तरिक असंगतियों के फलस्वरूप एक स्थिति का विनाश दूसरी और उससे उच्चस्तर की स्थिति के निर्माण के लिए पथ प्रशस्त करता है। ऐसा विनाश जो विकास के इस क्रम को रोक देता है इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता। फलतः **मार्क्सवाद क्रान्ति को संहार और विनाश के अर्थ में न लेकर समाज के स्वस्थ निर्माण के अर्थ में ही लेता है।** आधुनिक पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत विशाल सर्वहारा समुदाय श्रेणी सजग होकर जब यह अनुभव करने लगता है कि पूंजीवादी शोषण के असहनीय प्रतिबन्धों से मुक्ति पाये बिना और सामाजिक व्यवस्था को बदल कर अपने अनुकूल बनाए बिना उसके अस्तित्व की रक्षा नहीं हो सकती, तब वह क्रान्ति का आश्रय लेने के लिए बाध्य हो जाता है। **"सर्वहारा वर्ग के एकाधिपत्य में ही यह क्रान्ति प्रतिफलित होती है, और उसी के द्वारा और उसी के रूप में यह (सर्वहारा) क्रान्ति तथा उसकी गति उसकी रूपरेखा और उसकी सफलताएं साकार बनती हैं। सर्वहारा वर्ग का एकाधिपत्य सर्वहारा क्रान्ति का शस्त्र, उसका मुख्य साधन और उसका प्रधान आधारस्तम्भ है।"**[१] एक अन्य स्थान पर **स्तालिन** ने लिखा है कि **"सर्वहारा एकाधिपत्य एक क्रान्तिकारी शक्ति है जिसका आधार पूंजीपतियों के विरुद्ध बल का प्रयोग है।"**[२]

जहां तक समाजवादी क्रान्ति का सम्बन्ध है मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का यही आशय निकलता है कि सर्वहारा शासक वर्ग के रूप में सुसंगठित होकर राजसत्ता पर अपना एक छत्र अधिकार जमा ले।[३] **पूंजीपतियों के विरोध को समाप्त करने**

---

१. स्तालिन—लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त पृ० ३४।

२. वही, पृ० ३६।

3. "The class struggle necessarily leads to the dictatorship of the proletariat."

Letter from Marx to JOSEPH WEYDEMEYER – March 5, 1852, in Historical Materialism (P. P. H. Bombay 1943) P. 32.

और नई आर्थिक व्यवस्था के सफल निर्माण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा के हाथों में राजसत्ता के रूप में एक ऐसी शक्ति विद्यमान हो जिसमें किसी दूसरे वर्ग का साझा न हो और जिस के द्वारा वह प्रगति में बाधा डालने वाले अपने विरोधियों को रास्ते से हटा सके, अन्यथा यह स्पष्ट है कि वह क्रान्ति की सफलताओं का उपभोग नहीं कर सकेगा। श्रेणी-सजग सर्वहारा यह भली भांति जानता है कि क्रान्ति में पराजित होने और राजसत्ता से वंचित हो जाने के बाद भी पूँजीपतियों के अन्दर पुराने संस्कार बने रहते हैं और वे अनेक षड़यन्त्रों और गुप्त उपायों द्वारा अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने का उपाय करते रहते हैं। इसी ओर लक्ष्य करते हुए तथा सर्वहारा एकाधिपत्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए स्तालिन ने लिखा है[1] "पूंजीपति वर्ग के किसी देश में पराजित हो जाने पर भी विभिन्न कारणों से वह देश के विजयी मजदूर वर्ग भी अपेक्षा बहुत दिनों तक अधिक शक्तिशाली बना रहता है। अतएव सर्वहारा वर्ग के सामने मुख्य प्रश्न होता है शासन पर अपने अधिकार को बनाए रखने का, उसकी जड़ों को मजबूत करने का और उसे हर तरह से अपराजेय बनाने का। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए मजदूर वर्ग को कम से कम तीन कार्य करने पड़ते हैं जो क्रान्ति की सफलता के साथ ही उसके सामने आ उपस्थित होते हैं। ये कार्य निम्नलिखित हैं:—

१—क्रान्ति द्वारा पराजित और अधिकारच्युत पूंजीपतियों के विरोध को बलपूर्वक दबा करके पूंजी का शासन फिर से स्थापित करने के उनके समस्त प्रयत्नों को असफल बनाना।

२—रचनात्मक और निर्माण सम्बन्धी कार्यों को इस ढंग से संगठित करना कि जिससे सारा श्रमजीवी जनसमूह मजदूर वर्ग का सहयोगी बन जाय। उसे इन कार्यों को इस ढंग से पूरा करना चाहिए कि वर्ग-भेद के और वर्ग समाज के भी अंत का रास्ता साफ हो जाय।

३—विदेशी शत्रुओं और साम्राज्यवादियों से लोहा लेने के लिए क्रान्ति के समर्थकों को हथियार बन्द करना और क्रान्तिकारियों की सेना संगठित करना जिससे कि वे इस कार्य में पूर्ण रूप से सफल हो सकें।

---

१. स्तालिन—लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त, पृ० ३५।

इन्हीं कार्यों को सफल करने के लिए सर्वहारा एकाधिपत्य की आवश्यकता होती है। लेनिन के शब्दों में "शासन पद से हटाए जाने के बाद पूंजीपति वर्ग का विरोध दस गुना बढ़ जाता है। इसी शासनच्युत किन्तु अधिक शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध नये वर्ग के अत्यन्त दृढ़ और निर्मम संग्राम का ही नाम सर्वहारा-वर्ग का एकाधिपत्य है।"[1]

सर्वहारा का एकाधिपत्य वास्तव में पंजीवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज के संक्रमणकाल की ही एक अवस्था विशेष है[2] जिसमें सर्वहारा, क्रान्ति के पश्चात्, अधिकार से वंचित किए गए पूंजीपति-वर्ग को बलपूर्वक दबा कर रखता है और उत्पादन के साधनों को उनके हाथों से छीन कर, उन्हें सार्वजनिक सम्पत्ति घोषित करके, एक शोषण मुक्त, वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। फलतः सर्वहारा एकाधिपत्य पूँजीवादी वर्ग के ऊपर सर्वहारा का राज्य है जिसका आधार बल है। राजसत्ता पर अधिकार प्राप्त करके सर्वहारा सब को सब कुछ करने की स्वतन्त्रता नहीं दे सकता। वह इस बात को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता है कि जिस तरह अब तक पूंजीपति वर्ग राजसत्ता का प्रयोग श्रमिक वर्ग को दबाने के लिए करता आया है उसी तरह अब सर्वहारा भी राजसत्ता का प्रयोग अपने वर्ग-शत्रुओं को दबाने के लिए करेगा। लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध रचना "राजसत्ता और क्रान्ति" में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है "सर्वहारा किस वर्ग को दबाएगा ? जाहिर है—केवल शोषक वर्ग को यानी पूंजीपति वर्ग को। मेहनत कशों को राजसत्ता की जरूरत केवल शोषकों के विरोध को खतम करने के लिए होती है और केवल मजदूर वर्ग ही इस दमन कार्य का संचालन कर सकता है, वही उसे पूरा कर सकता है, क्योंकि मजदूर वर्ग ही ऐसा वर्ग है जो सुसंगत रूप से क्रान्तिकारी है।"[3]

---

१. स्तालिन—लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त, पृ० ३७।

2. "Between capitalist and communist society lies the period of the revolutionary transformation of the one into the other. There corresponds to this also a political transition period in which the state can be nothing but the revolutionary dictatorship of the proletariat."

Karl Marx—'Critique of the Gotha Programme', P. 39.

३. लेनिन—राजसत्ता और क्रान्ति पृ० २१।

इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि सर्वहारा एकाधिपत्य में जनवाद का क्या स्थान है ? क्या सर्वहारा एकाधिपत्य जनवाद के सम्यक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न कर सकता है अथवा नहीं ? इसका उत्तर देते हुए स्तालिन ने अपनी प्रसिद्ध रचना **लेनिनवाद के सिद्धान्त** में लिखा है कि **"पूंजीवादी झण्डे के नीचे स्थापित जनतन्त्र पूंजीवादी जनतन्त्र है, वह अल्प संख्यक शोषकों का जनतन्त्र है जो बहु-संख्यक शोषितों के विरुद्ध और उनके अधिकारों का गला घोट करके स्थापित किया गया है। सर्वहारा वर्ग के एकाधिपत्य में ही शोषित जनता को वास्तविक स्वाधीनता मिल सकती है। तभी मजदूरों और किसानों का शासन में भाग लेना भी संभव हो सकता है। सर्वहारा एकाधिपत्य की छत्रछाया में स्थापित जनतन्त्र सर्वहारा जनतन्त्र है, बहु-संख्यक शोषित का जनतन्त्र है जिसकी स्थापना अल्प-संख्यक शोषकों के विरुद्ध और उनके अधिकारों को नियंत्रित करके की गई है।"**[1] स्तालिन के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि न तो पूंजीवादी जनवाद ही शुद्ध जनवाद है और न सर्वहारा एकाधिपत्य के अन्तर्गत ही शब्द के व्यापक अर्थों में समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों के लिए जनवाद सम्भव हो सकता है। दोनों दशाओं का प्रधान अंतर केवल यही है कि जहां पहली अवस्था में अल्पमत के हितों के लिए बहुमत का नियन्त्रण किया जाता है वहां दूसरी अवस्था में बहुमत की सुरक्षा के लिए अल्पमत का नियंत्रण किया जाता है। लेनिन के शब्दों में **"विशाल जन समुदाय के लिए जनतन्त्र की व्यवस्था और जनता के शोषकों और उत्पीड़कों का बलपूर्वक दमन अर्थात् जनतन्त्र से उनका बहिष्कार—यही मुख्य परिवर्तन है जो पूंजीवादी व्यवस्था से कम्युनिस्ट व्यवस्था तक के संक्रमण काल में जनवाद में घटित होता है।"**[2]

---

१. स्तालिन—लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त पृ० ४०।

2. Democracy for the vast majority of the people and the suppression by force i.e. exclusion from democracy, of the exploiter and oppressors of the people—this is the change democracy undergoes during the transition from capitalism to commnuism,"

Marx Engels—Marxism—V. I. Lenin, P. 348.

अत: मार्क्सवादी धारणा के अनुसार सर्वहारा एकाधिपत्य जनवाद को एक ऐसा व्यापक आधार प्रदान करता है जहां से श्रेणी विभेद को समाप्त करके समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों के लिए वास्तविक जनवाद की स्थापना सम्भव हो जाती है।

वर्ग-विहीन समाज की धारणा

सर्वहारा एकाधिपत्य, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है मार्क्सवाद का साध्य नहीं केवल साधन है। मार्क्सवाद का साध्य तो वास्तव में वर्ग-विहीन समाज की स्थापना है। सैद्धान्तिक रूप से ही मार्क्सवाद समाज में श्रेणियों के अस्तित्व को अशुभ और अनावश्यक मानता है और हर सम्भव उपाय द्वारा उनके उन्मूलन का प्रयास करता है। समाज में श्रेणियों की उत्पत्ति ही उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों की विषमता के फलस्वरूप हुई है। प्राचीन काल से लेकर अब तक समाज के सम्पूर्ण शोषण और उत्पीड़न का इतिहास वास्तव में श्रेणी संघर्ष का ही इतिहास है। अत: मार्क्सवाद शोषण और असमानता के उन्मूलन के लिए समाज में श्रेणियों को जन्म देने वाली आर्थिक व्यवस्था के मूल पर ही प्रहार करता है। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर वह विशाल सर्वहारा जन समुदाय में वर्ग-चेतना का संचार करता है। श्रेणी सजग और संगठित सर्वहारा, क्रान्ति के द्वारा राजसत्ता पर अधिकार प्राप्त करके अपना एकाधिपत्य स्थापित करता है। सर्वहारा के एकाधिपत्य की स्थापना के साथ ही उसका कार्य समाप्त नही हो जाता वरन् यहीं से उसका वास्तविक कार्य आरम्भ होता है। सामाजिक स्वरूप वाले विशाल उत्पादन साधनों को व्यक्तिगत सम्पत्ति में परिवर्तित करके पूंजीवाद ने जिस श्रेणी गत असमानता को उत्पन्न किया है उसका अंत करने के लिए सर्वहारा राजसत्ता पर एकाधिपत्य स्थापित करके उत्पादन के साधनों को सामाजिक सम्पत्ति घोषित कर देगा। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से मुनाफा के लिए माल उत्पादन की पद्धति का भी अन्त हो जायगा। आर्थिक व्यवस्था में इस प्रकार सुधार हो जाने से वर्ग-संघर्ष का मूल कारण ही समाप्त हो जायगा। ऐंगेल्स के कथनानुसार **"इस अवस्था में समाज का उत्पादन**

पहले से बनी योजना के अनुसार हो सकेगा। उत्पादन का विकास हो जाने से समाज में विभिन्न वर्गों का अस्तित्व अनावश्यक और निरर्थक बन जायगा। जैसे जैसे सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र से अराजकता दूर होती जायगी, वैसे वैसे राज्य के राजनीतिक अधिकारों का भी अंत होता जायगा।"[१] इस प्रकार मार्क्सवादी धारणा के अनुसार सर्वहारा एकाधिपत्य समाज से वर्ग-संघर्ष और श्रेणी-विभेद को समाप्त करने का एक अनिवार्य साधन है।

समाज में श्रेणियों के अस्तित्व के संबन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए अपनी प्रसिद्ध रखना राजसत्ता और क्रान्ति में लेनिन ने लिखा है—"अक्सर कहा और लिखा जाता है कि मार्क्स के सिद्धान्तों का केन्द्रीय तत्व वर्ग-संघर्ष है, लेकिन यह सही नहीं है। और इसी गलती से अक्सर मार्क्सवाद की अवसरवादी तोड़-मरोड़ पैदा होती है .... वर्ग संघर्ष के सिद्धांतों की सृष्टि मार्क्स ने नहीं, बल्कि मार्क्स से पहले पूँजीपति वर्ग ने की थी और आम तौर से वह पूंजीपतियों को मान्य है। जो लोग केवल वर्ग संघर्ष को मानते हैं वे अभी तक मार्क्सवादी नहीं बने हैं, वे सम्भवत: अभी तक पूंजीवादी तर्क प्रणाली और पूंजीवादी राजनीतिक के दायरे में ही चक्कर काट रहे हैं। मार्क्सवाद को वर्ग सघर्ष के सिद्धांत तक ही सीमित करने के माने हैं मार्क्सवाद की काट-छाट करना, उसकी तोड़-मरोड़ करना, उसे एक ऐसी चीज बना देना जो पूंजीपति वर्ग को मान्य है। मार्क्सवादी केवल वही है जो वर्ग संघर्ष की मान्यता से आगे बढ़ कर सर्वहारा वर्ग की डिक्टेटरशिप को मानता है।"[२] सर्वहारा के इस एकाधिपत्य के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने वेडेमेयर के नाम लिखे हुए अपने एक पत्र में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया है :—"[३]

१—वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास की खास ऐतिहासिक अवस्थाओं से जुड़ा हुआ है।

२—वर्ग संघर्ष का आवश्यक परिणाम सर्वहारा वर्ग की डिक्टेटरशिप की स्थापना होता है।

---

१. फ्रेडरिक ऐंगेल्स—'समाजवाद : वैज्ञानिक और काल्पनिक,' पृ० ४८।

२. लेनिन—'राजसत्ता और क्रान्ति,' पृ० ३०-३१।

२. वही, पृ० ३०।

३—यह डिक्टेटरशिप स्वयं भी तमाम वर्गों के अन्त और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के लिए एक परिवर्तन-काल की चीज है।

मार्क्स के इन शब्दों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वहारा का एकाधिपत्य स्वयं लक्ष्य न होकर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना रूपी लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन मात्र ही है।

मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार सर्वहारा एकाधिपत्य के फलस्वरूप जिस वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी उसमें प्रत्येक व्यक्ति के जीविकोपार्जन का एक ही आधार होगा और वह होगा उसका **श्रम**।[1] उस समय की आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी होगी जिसमें परिश्रम किए बिना केवल मुनाफे पर ही जीवित रहने वाले व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नही होगा। उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का नहीं वरन् समाज का अधिकार होगा। एक व्यक्ति के द्वारा, दूसरे व्यक्ति के शोषण का पूर्णतः अंत हो जायगा। पूंजीवाद के अन्तर्गत जनवाद की सीमाएं बहुत संकुचित हो गई हैं क्योंकि सत्ताधारी अल्पमत के हित साधन के लिए बहुमत को दबाया जाता है। सर्वहारा एकाधिपत्य के अन्तर्गत जनवाद की सीमा का विस्तार अवश्य होता है परन्तु इसे भी शुद्ध जनवाद की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती क्योंकि बहुमत के हित साधन के लिए अल्पमत को दबाया जाता है। वास्तव में सर्वहारा के एकाधिपत्य के फलस्वरूप विकसित होने वाले वर्गविहीन समाज में शोषक और शोषित के भेदभाव के समाप्त हो जाने पर समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों के लिए, बिना किसी अपवाद के व्यापक एवं सच्चे अर्थों में जनवाद की प्रतिष्ठा होगी।[2]

---

1. "...........................it will result in the appearance of a homogeneous classless society, all of whose members derive their incomes from the same source, viz. their labour."

   John Strachy—'The Theory and Practice of Socialism, P. 405.

2. "Only then will really complete democracy without any exception, be possible and realized."

   V. I. Lenin—'Marx Engels Marxism', P. 349.

राजसत्ता का लोप

पूंजीवादी विचारकों की दृष्टि में राजसत्ता सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था के लिए एक ऐसी अनिवार्य संस्था है जिसकी आवश्यकता समाज को सदा ही बनी रहेगी, परन्तु मार्क्सवादी धारणा इसके नितान्त विपरीत है। वह सामाजिक व्यवस्था के लिए राजसत्ता को अनिवार्य न मान कर उसे केवल एक अस्थायी संस्था मात्र मानता है जिसकी उत्पत्ति सामाजिक विकास की कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत हुई है और उन परिस्थितियों के बदल जाने पर जिसका विलीन हो जाना भी निश्चित है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से राजसत्ता के भविष्य एवं उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के लिए उसकी उत्पत्ति एवं सामाजिक उपयोगिता को जान लेना भी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में हमें यह देखना चाहिए कि किन परिस्थितियों के अंतर्गत कब और किस के हित साधन के लिए उसका जन्म हुआ है, वह किस प्रकार विकसित होते हुए वर्तमान अवस्था तक पहुंची है और किस प्रकार समय समय पर वर्ग विशेष के हाथों में केन्द्रित होकर उसके स्वार्थों की रक्षा करती आई है। इन बातों को जान कर ही कम्युनिस्ट समाज में हम उसके भावी स्वरूप की कल्पना कर सकेंगे।

राजसत्ता के सम्बंध में अपने ऐतिहासिक विश्लेषण का सार बतलाते हुए ऐंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'परिवार-व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति'** में लिखा है :—

राजसत्ता कोई एसी शक्ति नहीं है जिसे समाज पर बाहर से लाद दिया गया हो ……वह ऐसी वस्तु है जो समाज के विकास की एक अवस्था विशेष में उत्पन्न हुई है। वह इस बात की स्वीकृति है कि समाज अपने ऐसे विरोधों में उलझ गया है कि जिनसे मुक्ति पाना संभव नहीं है। …… परन्तु विरोधी आर्थिक हितों वाले यह वर्ग, यह अन्तर्विरोध, कहीं सारहीन निरर्थक संघर्ष में अपने को और समाज को भस्म न कर दे, एक ऐसी शक्ति आवश्यक हो गई जो देखने में समाज से ऊपर हो और जो इस संघर्ष को धीमा करके उसे 'व्यास्था' की

सीमाओं में रखे । यह शक्ति जो समाज से उत्पन्न हुई है परन्तु अपने आप को समाज से ऊपर रखती है और उससे अधिकाधिक अलग होती जाती है, राजसत्ता है ।'

एंगेल्स का यह कथन राजसत्ता के सम्बन्ध में मार्क्सवाद के इस मूल तथ्य को पूर्णत: स्पष्ट कर देता है कि उसका जन्म वर्ग-विरोध के फलस्वरूप हुआ है । समाज में वर्ग विभाजन का आदि रूप हमें दास प्रथा के अन्तर्गत दिखलाई देता है जिसमें दासस्वामियों का हित अपने दासों से अधिकाधिक परिश्रम करवा कर उनका शोषण करने में और दासों का हित इस शोषण से मुक्ति पाने में था । दास शोषण से ऊब कर कहीं विद्रोह न कर दें अत: दासस्वामियों को सशस्त्र व्यक्तियों के एक ऐसे संगठन की आवश्यकता पड़ी जो दासों को नियंत्रण में रख सके, उन्हें काम करने पर विवश कर सके और समय पड़ने पर उनके विद्रोह को दबा कर शान्ति स्थापित कर सके । सशस्त्र व्यक्तियों का संगठन ही राजसत्ता का आरम्भिक रूप था । उसके बाद से अब तक इतिहास के प्रत्येक युग में फौज-पुलिस आदि सशस्त्र व्यक्तियों के यह संगठन राजसत्ता के आवश्यक अंग के रूप में निरन्तर विद्यमान रहे हैं और सदा इनका यही काम रहा है कि समाज पर सम्पत्तिशाली वर्ग के शासन को बनाए रखें । यह बात दास युग, सामन्तवादी युग और पूंजीवादी युग तीनों पर एक जैसी घटित होती है :

इतिहास में समय-समय पर आर्थिक व्यवस्था और उसके साथ-साथ श्रेणी संघर्ष का स्वरूप अवश्य बदलता रहा है परन्तु राजसत्ता ने हर समय एक ही कार्य सम्पन्न किया है और वह है उस समय के उत्पादन के साधनों के स्वामी शासक वर्ग की व्यवस्था को समाज के शेष व्यक्तियों पर बलपूर्वक लादना । दासयुग में राज सत्ता मालिकों के हित में दासों को दबाती थी, समन्तवादी युग में वह राजाओं, सामन्तों, जागीरदारों और जमींदारों के हितों की रक्षा करती थी और इसी तरह पूंजीवादी राजसत्ता पूंजीपतियों की संपत्ति और पूंजीवादी शोषण व्यवस्था की रक्षा करती है । समाजवादी राजसत्ता भी मजदूर वर्ग के हित में समाजवादी व्यवस्था की रक्षा करती है और मजदूरों के वर्ग शत्रुओं को दबाती है । इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि **राजसत्ता का उदय समाज में श्रेणी विभाजन के साथ**

---

1. F. Engels—Quoted by Lenin in 'The State and Revolution' P.13.

हुआ है ।[1] और वह शासक वर्ग के हाथों में वर्ग शत्रुओं को दबा कर रखने का एक साधन मात्र है ।[2]

कुछ पूंजीवादी विचारकों का मत है कि राजसत्ता समाज के लिए एक उपयोगी संस्था है । वह अपने नियंत्रण द्वारा विरोधी वर्गों के संघर्ष को रोकती है और उनमें मेल कराती है । मार्क्सवाद इस धारणा का विरोध करता है । लेनिन ने अपनी पुस्तक राजसत्ता और क्रान्ति में लिखा है "राजसत्ता वर्ग विरोधों का फल है और यह स्पष्ट करती है कि इन विरोधों का मेल नहीं कराया जा सकता । राजसत्ता तभी पैदा होती है जब वर्ग विरोधों का मेल नहीं कराया जा सकता और वह वहीं पैदा होती है जहां उनका मेल कराना असंभव हो जाता है, और वह उसी सीमा तक बढ़ती है जिस सीमा तक इन विरोधों का मेल कराना असंभव होता है ।"[3] मार्क्स का कथन है कि यदि वर्गों में मेल कराना संभव होता तो फिर राजसत्ता का जन्म ही न हुआ होता ।[4] उनके अनुसार राजसत्ता वर्ग शासन का एक ऐसा अस्त्र है जो वर्गों के बीच टक्करों की रोक थाम करके अपने नियंत्रण द्वारा उत्पीड़न और शोषण को कानूनी रूप देकर उसे बनाए रखती है ।[5]

---

1. "The State arose because society split up into antagonistic classes."

   J. Stalin—'Problems of Leninism' P. 635.

2. "The State is a machine in the hands of the ruling class for suppressing the resistance of its class enemies."

   वही, पृ० ४३ ।

3. Lenin—'State and Revolution', P. 13.

४. वही, पृ० १४ ।

5. "According to Marx the State is an organ of class rule, an organ for the oppression of one class by another, it is the creation of 'order' which legalizes and perpetuates this oppression by moderating the conflict between the classes."

   वही, पृ० १४ ।

राजसत्ता के वर्ग स्वरूप से परिचित हो जाने पर अब हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उसके भविष्य की कल्पना भी कर सकते हैं। मार्क्सवाद का उद्देश्य वर्ग विहीन समाज की स्थापना है। कम्युनिस्ट समाज में इस उद्देश्य की सिद्धि हो जाने पर तथा वर्ग विरोध के समूल नष्ट हो जाने पर एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग को बलपूर्वक दबा कर रखने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। अतः **वह राजसत्ता जिसका जन्म वर्ग शत्रुओं को दबाने के लिए समाज में वर्ग विभाजन के साथ हुआ था, वर्ग विहीन समाज की स्थापना के पश्चात् एक अनावश्यक और अनुपयोगी संस्था बन कर धीरे-धीरे स्वयं ही मुरझा कर समाप्त हो जायगी।**[1] यहां पर इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि कम्युनिस्ट समाज में राजसत्ता को प्रयत्नपूर्वक मिटाया नहीं जायगा, वरन् उपयोग में न आने के कारण वह एक व्यर्थ की वस्तु बन कर धीरे-धीरे स्वयं ही मुरझा कर मिट जायगी।[2]

राजसत्ता के साथ ही जनतंत्र का प्रश्न भी लगा हुआ है। मार्क्सवादी धारणा के अनुसार जनतंत्र भी राजसत्ता का ही एक रूप है और इस नाते उसके साथ विरोधी वर्ग को दबाने की भावना भी अनिवार्य रूप से संलग्न है।[3] यह दूसरी बात है कि विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के अन्तर्गत जनतंत्र का रूप बदलता रहा है और उसके नाम पर समाज के सब व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता और समानता का प्रचार होता रहा है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो पूंजीवादी जनतन्त्र वास्तव में अल्पमत का जनतन्त्र है क्योंकि उसके अन्तर्गत सत्ताधारी अल्पमत के पक्ष में बहुमत को दबाया

---

1. "The State withers away in so far as there aɹe no longer any capitalists, any classes and consequently, no class can be suppressed."

   Lenin—'State and Revolution,' Marx Engels Marxism, P. 354.

2. The State is not abolished, it withers away".

   Engels : 'Anti-Duhring,' P. 315.

3. Democracy is a form of state, one of its varieties, consequently, it, like every state, on the one hand represents the organised, systematic application of force against persons..............."

   Lenin—State and Revolution—Marx Engles Marxism, P. 359.

जाता है।[1] इसी प्रकार समाजवादी जनतन्त्र में भी बहुमत के पक्ष में शोषण करने वाले अल्पमत को दबाया जाता है। पूँजीवादी जनतन्त्र की तुलना में समाजवादी जनतन्त्र कहीं अच्छा है परन्तु फिर भी शुद्ध अर्थों में इसे भी जनवाद की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती क्योंकि समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों के लिए इसमें भी स्वतन्त्रता समानता नहीं मिल पाती है।[2] लेनिन के कथनानुसार राजसत्ता के रहते हुए वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति असम्भव है और वास्तविक स्वतन्त्रता और जनवाद की उपलब्धि के साथ ही राजसत्ता का अथवा राजसत्ता के रूप में जनतन्त्र का लोप हो जाना भी अवश्यम्भावी है।[3] अतः **सच्चे अर्थों में जनवाद की उपलब्धि सर्वहारा एकाधिपत्य की स्थिति से भी आगे बढ़ कर, राजसत्ता के लोप हो जाने पर कम्युनिस्ट समाज की परिपक्व अवस्था में ही संभव हो सकेगी।**[4] यह अवस्था उसी समय आ सकेगी जब कम्युनिस्ट समाज के अन्तर्गत व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक

---

1. ' But this democracy is always restricted by the narrow framework of capitalist exploitation and consequently always remains in reality, a democracy for the minority only for the possessing classes, only for the rich."

   वही, पृ० ३४६।

2. "Democracy for the vast majority of the people and suppression by force i.e. exclusion from democracy, of the exploiters and oppressors of the people—this is the change democracy undergoes during the transition from capitalism to communism."

   वही, पृ० ३४८।

3. "While the state exists there is no freedom. When there will be freedom, there will be no state.
   Lenin—State and Revolution—Marx Engels Marxim, P. 355.

४. वही, पृ० ३४८–३४६।

योग्यता सम्बन्धी असमानताएं भी दूर हो जायेंगी।[1] और समाज सुलझे हुए व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन बन जायगा जिसमें जनहित की भावना प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव का एक अंग हो जायगी, उसके लिए किसी प्रकार के कानून या बलप्रयोग की आवश्यकता नहीं रहेगी।[2] इस अवस्था तक पहुंचने में कितना समय लगेगा इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती।

कम्युनिस्ट समाज की दो अवस्थाएं

पूंजीवादी व्यवस्था के समाप्त होते ही क्रान्ति के पश्चात् एकाएक आदर्श कम्युनिस्ट समाज की स्थापना नहीं हो सकती है। इसके लिए एक लम्बे संक्रमण काल की आवश्यकता पड़ती है। पूंजीवाद की पराजय के बाद भी व्यक्तियों में बहुत समय तक पूंजीवादी संस्कार जीवित रहते हैं और समाज में अनेक प्रकार की असमानताएं बनी रहती हैं। अतः सर्वहारा एकाधिपत्य के अन्तर्गत राजसत्ता का आश्रय लेकर इन विरोधी प्रवृत्तियों को बलपूर्वक दबाया जाता है और धीरे-धीरे असमानताओं को दूर करके, व्यक्तियों की मनोवृत्ति को अनुकूल बना कर कम्युनिस्ट समाज की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त किया जाता है। कालान्तर में असमानताओं के दूर हो जाने पर एक ऐसी अवस्था आती है जब पूंजीवादी संस्कार मिट जाते हैं, परिश्रम और जनहित की भावना व्यक्तियों के स्वभाव के अनिवार्य अंग बन जाते हैं नियम पालन के लिए बल प्रयोग और कानून की आवश्यकता नहीं रहती जिसके फलस्वरूप राजसत्ता का भी

1, "The economic basis for the complete withering away of the state is such a high stage of development of communism that the antithesis between mental and physical labour disappears."

२. वही, पृ० ३५५।

लोप हो जाता है। ऐसे समाज की स्थापना ही मार्क्सवाद का मूल उद्देश्य है। कम्युनिस्ट समाज की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने उपर्युक्त संक्रमण कालीन स्थिति को कम्युनिस्ट समाज की **प्रथम** अथवा **निम्न** अवस्था तथा अंतिम स्थिति को कम्युनिस्ट समाज की **द्वितीय** अथवा **उच्च** अवस्था कहा है। मार्क्स द्वारा कथित प्रथम अवस्था को ही सामान्यतः **समाजवाद** और द्वितीय अवस्था को '**कम्युनिज्म**' भी कहा जाता है।'[1]

प्रथम अवस्था में कम्युनिस्ट समाज एक ऐसी स्थिति में होता है जहां समता का सिद्धान्त सच्चे और व्यापक अर्थों में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। इसका कारण बतलाते हुए मार्क्स ने कहा है 'यह कम्युनिस्ट समाज ऐसा नहीं है जो स्वयं अपनी आधार शिला पर विकसित हुआ है वरन् इसके विपरीत इसकी उत्पत्ति पूंजीवादी समाज से हुई है और इस प्रकार इस पर उस पुराने समाज के आर्थिक नैतिक और बौद्धिक हर प्रकार के जन्मजात संस्कारों की छाप लगी हुई है जिसके गर्भ में इसने जन्म लिया है।'[2] इस सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन के साधन व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं बन सकेंगे और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का आर्थिक शोषण भी नहीं कर सकेगा। उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार न होने से व्यक्ति केवल अपने परिश्रम द्वारा ही सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में योग दे सकेगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति एक श्रमिक की स्थिति होगी, भले ही उत्पादन के क्षेत्र में वह किसी प्रकार का कार्य क्यों न करता हो। अतः जो व्यक्ति अपनी श्रमशक्ति द्वारा उत्पादन के कार्य में जितना अधिक योग देगा उसे श्रम के बदले सामाजिक उत्पादन से उसी अनुपात से उपभोग सामग्री प्राप्त करने का अधिकार भी होगा। पूंजीवादी व्यवस्था

---

1. Lenin—The state and revolution—Marx Engels : Marxism, P. 357.

2. "What we have to deal with here is a communist society, not as it has developed on its own foundation but on the contrary as it emerges from capitalist society, which is thus in every respect economially morally and intellectually, still stamped with birthmarks of the old society from whose womb it emerges."

Marx—Critique of the Gotha Prcgramme—P. 15.

में जिस प्रकार पूंजीपतियों के द्वारा श्रमिक व्यक्तियों के परिश्रम का शोषण किया जाता है उस प्रकार इस समाज में किसी के परिश्रम का शोषण नहीं हो सकेगा। जो जितना काम करेगा उतना पायेगा। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम का शतप्रतिशत बदला सामाजिक उत्पादन से प्राप्त करेगा। वास्तव में उत्पादन के साधनों की सुव्यवस्था और सामाजिक सुरक्षा के लिए उसके परिश्रम से कुछ कटौती करना भी आवश्यक होगा।[1] इस कटौती के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक उत्पादन से अपने परिश्रम के अनुपात में उपभोग सामग्री प्राप्त करने का समानाधिकार होगा। दूसरे शब्दों में **व्यक्ति श्रम के रूप में जो कुछ समाज को देगा कटौती के पश्चात् ठीक उतना ही समाज से प्राप्त भी कर लेगा।**[2]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था में शोषण समाप्त हो जायगा और प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम का उपभोग करने का समानाधिकार प्राप्त होगा। परन्तु यह समानाधिकार भी मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार सच्चा समानाधिकार नहीं होगा। इस बात की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए मार्क्स ने इसे **'पूंजीवादी समानाधिकार'** कहा है।[3] क्योंकि पूजीवाद की तरह यह समानाधिकार

---

1. 'Marx shows that from the whole of the Social labour of Society there must be deducted a reserve fund, fund for the expansion of production, for the replacement of the 'wear and tear' of machinery, and so on, then from the means of consumption there must be deducted a fund for the expenses of administration, for Schools, hospitals, homes for the aged and so on.'

   Lenin —State and revolution, P. 127.

2. 'According by the individual producer receives back from society—after the deductions have been made—exactly what he gives to it.'

   Marx—Critique of the Gotha Programme, P. 15.

3. Hence, equal right here is still in principle—bourgeois right.'

   वही, पृ० १६।

भी असमानता को ही प्रश्रय देता है। वास्तव में यह असमान व्यक्तियों का समानाधिकार है अथवा मार्क्स के शब्दों में **'असमान परिश्रम के असमान अधिकार का समानाधिकार है।'**[1] यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस अवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपने श्रम के रूप में समाज को जो देता है (उचित कटौती के बाद) केवल उतना ही उससे प्राप्त करने का अधिकार रखता है। परन्तु समाज के सब व्यक्ति समान नहीं होते। पूँजीवादी संस्कारों के फलस्वरूप उनमें अनेक प्रकार की असमानताएं विद्यमान रहती हैं। कोई परिश्रमी होता है तो कोई आलसी, कोई बलवान होता है तो कोई निर्बल, कोई विवाहित है तो कोई अविवाहित, किसी के अधिक बच्चे हैं तो किसी के कम। इन समस्त असमानताओं के कारण कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था में समानाधिकार के होते हुए भी व्यक्तियों में आर्थिक असमानताएं बनी रहती हैं। एक की आय अधिक होती है तो दूसरे की कम, एक अमीर हो जाता है तो दूसरा उससे गरीब।[2] 'परन्तु पूंजीवादी समाज से एक लम्बी प्रसव पीड़ा के पश्चात् उत्पन्न होने वाले कम्युनिस्ट समाज की इस प्रथम अवस्था में इन समस्त त्रुटियों का बना रहना अनिवार्य है।'[3]

इस प्रकार कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था में हम समानाधिकार का केवल यही अर्थ ले सकते हैं कि **व्यक्तियों के परिश्रम के मूल्यांकन का मापदंड समान हो जाता है** अन्यथा समाज में आर्थिक असमानताएं बनी रहती हैं जिनके निवारण के

---

1. 'This equal right is an unequal right for unequal labour.'

   वही, पृ० १७।

2. '....................With an equal output and hence an equal share in the social consumption fund one will in fact receive more than the other, one will be richer than another and so on'. Marx—Critique of the Gotha Programme, P. 17.

3. 'But these defects are inevitable in the first phase of the communist society as it is when it has just emerged after prolonged, birth pangs from capitalist society.'

   वही, पृ० १८-१९।

लिए अधिकार को समान होने के स्थान पर असमान होना पड़ेगा।'[1] यद्यपि कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था के अन्तर्गत हम इस समाजवादी सिद्धान्त को चरितार्थ कर लेते हैं कि **'जो काम नहीं करता वह खाएगा भी नहीं'** तथा दूसरा समाजवादी सिद्धान्त कि **'समान परिश्रम के लिए उत्पादित वस्तुओं की समान मात्रा'** भी पूरा हो जाता है परन्तु फिर भी इस स्थिति को वास्तविक अर्थों में कम्युनिज्म की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती क्योंकि असमान व्यक्तियों को परिश्रम के बदले उत्पादित वस्तुओं की समान मात्रा देने वाला पूंजीवादी समानाधिकार अब भी बना रहता है।[2] और पूंजीवादी समानाधिकार के रहते हुए वास्तविक कम्युनिज्म की उपलब्धि असंभव है।

कम्युनिस्ट समाज की द्वितीय अथवा उच्चतर अवस्था के सम्बन्ध में मार्क्स ने लिखा है :—

"कम्युनिस्ट समाज की उच्चतर अवस्था में जब श्रम विभाजन के अन्तर्गत व्यक्तियों की विवशतामयी अधीनता का और साथ-साथ मानसिक और शारीरिक श्रम के विरोध का अंत हो जाता है, जब श्रम जीवन का केवल एक साधन न रह कर जीवन की स्वयं एक प्रमुख आवश्यकता बन जाता है, जब व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास के साथ साथ उत्पादक शक्तियों की भी अभिवृद्धि होती है और सहकारी सम्पत्ति के समस्त स्रोत अधिकाधिक प्रचुरता और सम्पन्नता के साथ प्रवाहित होने लगते हैं तभी जाकर 'पूंजीवादी अधिकार' की संकुचित परिधि से पूरी तरह पीछा छूट सकता है और समाज अपने झण्डे पर यह अंकित कर सकता है : हर एक अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार पाए।'[3]

मार्क्स के इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था में एकाएक नहीं जाया जा सकता। वह विकास की एक

---

1. 'To avoid all these defects, right instead of being equal, would have to be unequal.'

   वही, पृ० १७।

2. Lenin—The state and Revolution, P. 131.

3. Marx—Critique of the Gotha Programme, P. 19.

लम्बी प्रक्रिया है। जिसका मूलाधार आर्थिक परिपक्वता है। कम्युनिस्ट समाज की प्रथम अवस्था के अन्तर्गत जैसे जैसे उत्पादक शक्तियों का विकास होता जाता है और आर्थिक परिपक्वता एवं सम्पन्नता के फलस्वरूप पूंजीवादी संस्कारों का ह्रास होता जाता है वैसे ही वैसे हम कम्युनिस्ट समाज की द्वितीय अवस्था के निकट आते जाते हैं। कम्युनिस्ट व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों के विकास की कोई सीमा नही रहती और इसी प्रकार श्रम की उत्पादनशीलता भी पूंजीवादी समाज द्वारा कल्पित समस्त मानदण्डों को पीछे छोड़ कर उससे कहीं आगे बढ़ जाती है। इसके फलस्वरूप समाज में उपभोग सामग्री की इतनी अधिक प्रचुरता हो जाती है कि समाजवाद के सिद्धान्त **'हर एक अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपने काम के अनुसार पाए'** से आगे बढ़ कर कम्युनिज्म के सिद्धान्त **'हर एक अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और आवश्यकता के अनुसार पाए'** तक जाना सम्भव हो जाता है।[1] दूसरी स्थिति तक आते आते पूंजीवादी संस्कार मिट जाते हैं। परिश्रम करना व्यक्तियों का स्वभाव बन जाता है और वे अपनी व्यवस्था स्वयं करने में समर्थ हो जाते हैं। इसी लिए लेनिन ने कहा है **"जब लोग व्यवस्था करना सीख जायेंगे और वास्तव में स्वतन्त्र रूप से सामाजिक उत्पादन की व्यवस्था करने लगेंगे, स्वतन्त्र रूप से हिसाब किताब रखने लगेंगे। तो इस राष्ट्रव्यापी हिसाब किताब और नियन्त्रण से बचना असम्भव हो जायगा .... मानवीय व्यवहार के सामान्य नियमों को पालन करने की आवश्यकता शीघ्र ही एक स्वभाव बन जायगी। ... और तब कम्युनिस्ट समाज की पहली अवस्था से आगे उसकी उच्चतर अवस्था की ओर बढ़ने का और उसके साथ साथ राजसत्ता के पूर्ण रूप से मुरझा कर समाप्त हो जाने का द्वार पूरी तरह खुल जायगा।"**[2]

इस प्रकार कम्युनिस्ट समाज की द्वितीय अथवा उच्चतर अवस्था में ही मार्क्स-वाद के आदर्शों की वास्तविक उपलब्धि सम्भव हो सकेगी।

● ● ●

---

1. P.F. Yudin—The Prime Source of the Development of Soviet Society P. 43.

2, Lenin—The State and Revolution, PP. 142—145.

चतुर्थ अध्याय

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

- मूल्य सिद्धान्त और मार्क्स की देन ।
- स्मिथ का मूल्य सिद्धान्त ।
- रिकार्डो का मूल्य सिद्धान्त ।
- मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त ।
- अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त ।
- अतिरिक्त मूल्य और लाभ ।
- प्रतियोगिता और औद्योगिक संकट ।
- पूँजी का केन्द्रीकरण और एकाधिकार ।
- पूँजीवादी साम्राज्यवाद ।
- साम्राज्यवाद और युद्ध ।
- पूँजीवाद की आंतरिक असंगतियां ।

मूल्य सिद्धान्त और मार्क्स की देन

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त मार्क्स की एक अपूर्व देन समझी जाती है उसी प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में **अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त**[1] भी मार्क्स की एक महत्वपूर्ण देन है। एक दार्शनिक होने के साथ ही साथ मार्क्स अपने युग का एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री भी था। उसने पूंजीवादी अर्थनीति का गम्भीर अध्ययन कर के अपने **कैपिटल** (पूंजी) नामक ग्रन्थ में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का बड़ा ही सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। उत्पादित वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में श्रम का क्या महत्व है, पूँजीपति मुनाफा कहां से प्राप्त करते हैं, पूंजी का एकत्रीकरण एवं प्रसार कैसे होता है और उसकी विविध अवस्थाएँ क्या हैं, इत्यादि अनेक समस्याओं पर उसने परम्परागत मान्यताओं से हट कर एक स्वतन्त्र चिंतक के रूप में विचार किया। पूंजीवादी उत्पादन एवं वितरण सम्बन्धी अनेक असंगतियों पर प्रकाश डालते हुये अर्थनीति के क्षेत्र में मौलिक सिद्धान्तों का निर्धारण किया। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भी मार्क्स की ऐसी ही एक मौलिक स्थापना है।

उत्पादित वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किस आधार पर किया जाय, यह समस्या मार्क्स से पहले भी विद्यमान थी। समय समय पर अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस संबंध में अपने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनमें दृष्टिकोण सम्बन्धी पर्याप्त विभिन्नता है। ऊपर से देखने पर तो यही ज्ञात होता है कि उत्पादित वस्तुओं का मूल्य विनिमय में भाग लेने वाले उभय पक्ष के द्वारा निर्धारित किया जाता है परन्तु

---

1. Law of Surplus value.

वास्तविकता यह नही है। यदि सूक्ष्मता मे प्रवेश किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि एक ही वस्तु का मूल्य एक स्थान पर कुछ होता है तो दूसरे स्थान पर कुछ और, इसी प्रकार एक समय मे कुछ होता है तो दूसरे समय में कुछ और। अतः वस्तुओं के मूल्य पर विनिमय में भाग लेने वाले दलों की अपेक्षा समय और स्थान का नियंत्रण ही विशेष रूप से रहता है। साथ ही यह भी ज्ञात होगा कि विनिमय में भाग लेने वाले दलों की अपेक्षा वस्तु का यथार्थ मूल्य[1] भी विनिमय व्यापार को बहुत कुछ नियंत्रित और प्रभावित करता है।

एक वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के निश्चित परिमाण से विनिमय क्यों और किस आधार पर किया जाता है? वह कौन सा तत्व है जो वस्तुओं में मूल्य की स्थापना करता है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने जिन मूल्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हे हम सामान्यतः दो प्रधान वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—

१—मूल्य के आत्मगत अथवा उपयोगितावादी सिद्धान्त।[2]
२—मूल्य के वस्तुगत अथवा श्रम सिद्धान्त।[3]

कोई भी वस्तु पण्य की संज्ञा प्राप्त करके आर्थिक मूल्य तभी धारण कर सकती है जब उसमें एक तो हमारी किसी इच्छा अथवा आवश्यकता की पूर्ति की क्षमता हो और दूसरे उसके उत्पादन में किसी न किसी रूप में मानवीय श्रम का समावेश हुआ हो। ऐसी वस्तुओं का न तो हमारे निकट कोई मूल्य ही है और न उनसे हम किसी दूसरी वस्तु का बदला ही करना चाहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकतीं, दूसरे शब्दों में जिनकी हमारे लिये कोई उपयोगिता नहीं है। इसी प्रकार कोई वस्तु हमारे लिए कितनी ही उपयोगी क्यों न हो परन्तु यदि उसकी प्राप्ति में मानवीय श्रम नहीं लगा है तो उसका हमारे लिए कोई आर्थिक मूल्य नहीं होगा। उदाहरण के लिए जल और वायु हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी हैं फिर भी उनके उत्पादन के लिए हमें कोई श्रम नहीं करना पढ़ता, वे सर्वत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। इसीलिए उपयोगी होते हुए भी उनका कोई आर्थिक मूल्य नहीं है। अतः हम इस

---

1. Intrinsic value.

2. The subjective or utility theories of value.

3. The objective or labour theories of value.

निर्णय पर पहुंचते हैं कि **उपयोगिता** और **मानवीय श्रम** यह दो ऐसे अनिवार्य तत्व हैं जिनके समावेश से प्रत्येक पण्य अथवा उत्पादित वस्तु आर्थिक मूल्य धारण कर के विनिमय के योग्य बनती है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी पण्य का मूल्य निर्धारण या तो उसकी उपयोगिता के आधार पर हो सकता है या उसमें समाहित मानवीय श्रम के आधार पर । जो सिद्धान्त पण्य के मूल्य निर्धारण में मानवीय श्रम की अपेक्षा उसकी उपयोगिता को प्रधान तत्व स्वीकार करते हैं उन्हें **उपयोगितावादी मूल्य सिद्धान्त** कहा जाता है । इसके प्रतिकूल जो सिद्धान्त पण्य की उपयोगिता को नहीं वरन् मानवीय श्रम को मूल्य निर्धारण का आधार मानता है उसे **मूल्य का श्रम सिद्धान्त** कहा जाता है । उपयोगिता एक ऐसा गुण है जिसका सम्बन्ध वस्तु की अपेक्षा उपभोक्ता से अधिक है । एक सी वस्तु की उपयोगिता किसी व्यक्ति के लिए अधिक हो सकती है तो किसी के लिए कम । इसीलिए मूल्य के उपयोगितावादी सिद्धान्त को **आत्मगत मूल्य सिद्धान्त** भी कहा जाता है । किसी वस्तु के उत्पादन में मानवीय श्रम की जो मात्रा लगी है वह प्रत्येक अवस्था में एक ही रहेगी, भले ही उस वस्तु का उपयोग कोई भी करे अतः मानवीय श्रम एक वस्तुगत गुण है । इसीलिए मूल्य के श्रम सिद्धान्त को **'वस्तुगत मूल्य सिद्धान्त'** भी कहा जाता है ।

मार्क्सवाद के आर्थिक पक्ष का सम्बन्ध मूल्य के उपयोगितावादी अथवा आत्मगत सिद्धान्तों से न होकर श्रम अथवा वस्तुगत मूल्य सिद्धान्तों से है क्योंकि मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त का विकास **रिकार्डों** के श्रमवादी मूल्य सिद्धान्त के आधार पर ही किया है ।[1] अतः हम मार्क्स द्वारा प्रतिपादित **अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त** की व्याख्या श्रमवादी अथवा वस्तुगत मूल्य सिद्धान्तों की सापेक्षता में ही कर सकते हैं ।

---

1. '...... ..... as for as purc theory is concerned Marx must be considered a classic economist and more specifically a member of the Ricardian group.'

J. A. Schumpeter—History of Economic Analysis, P. 390.

स्मिथ का मूल्य सिद्धान्त

एडम स्मिथ[1] पहला अर्थशास्त्री था जिसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि पण्य का मूल्य निर्धारण उसकी उपयोगिता अथवा आवश्यकता पूर्ति की क्षमता के आधार पर नहीं वरन् वस्तु में समाहित श्रम की मात्रा के आधार पर किया जाता है। एडम स्मिथ ने दैनिक जीवन में इस सामान्य सत्य को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया कि प्रत्येक व्यक्ति सदा उसी वस्तु को अधिक महत्व प्रदान करता है और अधिक मूल्यवान समझता है जो उसे कठिनता से प्राप्त होती है अर्थात् जिसकी प्राप्ति के लिए उसे अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इसके प्रतिकूल जो वस्तु जितनी ही सुगमता से प्राप्त होती है उसका मूल्य उसके लिए उतना ही कम होता है। इससे स्मिथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि केवल **श्रम ही एक वास्तविक मान है जिसके द्वारा प्रत्येक स्थिति में प्रत्येक पण्य का मूल्यांकन किया जा सकता है।**[2]

अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्मिथ कहता है कि जो व्यक्ति जीवन की सुख सामग्री को जिस मात्रा में उपलब्ध करने की क्षमता रखता है वह उसी अनुपात में अमीर या गरीब कहा जा सकता है। परन्तु श्रम विभाजन के इस युग में कोई भी व्यक्ति केवल अपने परिश्रम से ही अपने जीवन की समस्त सुख सामग्री को प्राप्त नहीं

---

1. Adam Smith (1725-1790).

2. 'At all times and places that is dear which it is difficult to come at or which it costs much labour to acquire, and that is cheap which is to be had easily or with very little labour. Labour alone, therefore, never varying in its own value, is alone the ultimate and real standard by which the value of all commodities can at all times and places be estimated and compared."

   Adam Smith–The Wealth of Nations. Vol. I, P. 29.

कर सकता । इसके लिए उसे दूसरों के परिश्रम का सहारा लेना पड़ता है । अतः स्मिथ के शब्दों में **व्यक्ति जिस मात्रा में दूसरों के श्रम को क्रय करने अथवा उपलब्ध करने की क्षमता रखता है वह उसी अनुपात में अमीर या गरीब कहा जा सकता है।"**[1] यहाँ पर एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि पण्य के मूल्य निर्धारण में श्रम को निर्णायक और प्रधान तत्व मानने से स्मिथ का क्या आशय है ? क्या उसका आशय श्रम की उस निश्चित मात्रा से है जो किसी वस्तु के उत्पादन में व्यय होती है अथवा उसका आशय श्रम की उस मात्रा से है जो विनिमय के रूप में किसी वस्तु के बदले प्राप्त की जाती है ? अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए स्मिथ लिखता है—"किसी पण्य का मूल्य उस व्यक्ति के लिए जो उस पण्य का मालिक है और स्वयं उसका उपभोग न करके दूसरी उत्पादित वस्तुओं के साथ विनिमय करना चाहता है, श्रम की उस मात्रा के बराबर होता है जो वह उस पण्य के बदले उपलब्ध कर सकता है या क्रय कर सकता है।"[2] आगे चल कर वह फिर लिखता है—"किसी वस्तु का वास्तविक मूल्य उस व्यक्ति के लिए, जिसने उसे प्राप्त किया है और जो उसे बेचना या बदलना चाहता है, वास्तव में उस श्रम और असुविधा के बराबर होता है, जिससे उस वस्तु के द्वारा वह अपने आपको बचा सकता है या फिर अन्य व्यक्तियों से वैसा ही परिश्रम ले सकता है। ससार की संपूर्ण सम्पत्ति सोने और चादी से नही वरन् श्रम से ही मूलतः क्रय की गई थी और उसका मूल्य उन लोगों के लिए, जो उस सम्पत्ति के मालिक हैं और नवीन उत्पादित वस्तुओं से उसे बदलना चाहते हैं, श्रम की उस मात्रा के बराबर है जिसका क्रय वे उस सम्पत्ति के द्वारा कर सकते हैं।[3]

स्मिथ के उपर्युक्त शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्य के मूल्य निर्धारण में श्रम को निर्णायक तत्व स्वीकार करने से उसका आशय श्रम की उस मात्रा से नहीं है जो किसी पण्य के उत्पादन में लगाई जाती है वरन् श्रम की उस मात्रा से है जो उत्पादित वस्तु के विनिमय में किसी अन्य वस्तु के माध्यम से प्राप्त होती है। अतः यहाँ

---

1. '............he must be rich or poor according to the quantity of that labour which hc can command or which he can afford to purchase.'

   Adam Smith—The Wealth of Nations Vol. I, P. 26.

२. वही, पृ० १६।

3. Adam Smith—The Wealth of Nations Vol. I, p, 26.

पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रम सिद्धान्त का प्रतिपादक होते हुए भी स्मिथ ने अपने मूल्य सिद्धान्त को वस्तुगत न बना कर आत्मगत ही अधिक बना दिया है ।

रिकार्डो का मूल्य सिद्धान्त

एडम स्मिथ के उपर्युक्त सिद्धान्त की निर्बलताओं से अवगत होकर प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री डेविड रिकार्डो[1] ने एक नवीन मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो एडम स्मिथ के सिद्धांत की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत था। उसने बतलाया कि किसी पण्य विशेष का या उसके विनिमय में प्राप्त होने वाले अन्य पण्य का मूल्य श्रम की उस मात्रा के आधार पर निश्चित नहीं किया जाता है, जो उसका स्वामी उसके बदले उपलब्ध कर सकता है, बल्कि **श्रम की उस मात्रा के आधार पर निर्धारित किया जाता है जो उस पण्य विशेष के उत्पादन में लगाई गई है।**[2] किसी उत्पादित वस्तु का किसी अन्य वस्तु से विनिमय हो सकने का अर्थ यही है कि दोनो वस्तुओं के उत्पादन में श्रम की लगभग समान मात्रा लगी हुई है ।

रिकार्डो के उपर्युक्त सिद्धान्त पर विचार करने से स्मिथ के मूल्य सिद्धान्त से उसका अंतर पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। स्मिथ ने मूल्य के वस्तुगत सिद्धान्त को

1. David Ricardo (1772-1823).

2. 'The value of a commodity, or the quantity of any other commodity for which it will exchange depends on the relative quantity of labour which is necessary for its production and not on the greater or less compensation which is paid for its labour.'

David Ricardo—The Principles of Political Economy and Taxation, P. 5.

आत्मगत प्रणाली से सिद्ध करने का प्रयास किया है क्योंकि उसने मनुष्य की इस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया है कि जो वस्तु कठिनता से उपलब्ध होती है मनुष्य उसका अधिक मूल्यांकन करता है और जो सुगमता से उपलब्ध होती है उसका कम। इसके विपरीत रिकार्डो ने अपने सिद्धांन्त को वस्तुगत प्रणाली से सिद्ध किया। श्रम की समान मात्राओं का समान मूल्य होता है, इस बात का प्रतिपादन उसने स्मिथ की तरह अलग अलग व्यक्तियों की मनोभावनाओं के आधार पर नहीं वरन समाज की वस्तुगत परिस्थितियों पर बल देते हुए मुक्त प्रति-योगिता[1] के सिद्धांन्त के आधार पर किया। वह पहला अर्थशास्त्री था जिसने बल-पूर्वक इस बात की घोषणा की कि वे तत्व जिनके आधार पर पण्य का मूल्य निर्धारण किया जाता है, आकस्मिक, अस्थायी और आत्मगत न होकर स्थायी एवं वस्तुगत होते हैं। उनकी स्थिति व्यक्ति के अहम् में नहीं वरन् सामाजिक संघटन के मूल में, मुक्त प्रतियोगिता में है।

उसने यह भी बतलाया कि 'मूल्य' और 'दाम'[2] एक नहीं है। किसी पण्य के दाम का आशय माल की उस मात्रा अथवा द्रव्य से है जो विनिमय के समय वास्तविक रूप से दिया जाता है। मूल्य का निर्धारण उत्पादन के आधार पर किया जाता है जब कि दाम बाजार के आधार पर निश्चित किये जाते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं है कि विक्रय या विनिमय के समय हम सदा वस्तु के वास्तविक मूल्य को ही दाम के रूप में प्राप्त करें। बाजार की मुक्त प्रतियोगिता के अनुसार उसका दाम उसके वास्तविक मूल्य की अपेक्षा कम और अधिक भी हो सकता है। यदि किसी समाज में उत्पादन की ऐसी योजना बनाई जाय कि समाज को जितनी आवश्यकता है केवल उतने ही परिमाण में वस्तुओं का उत्पादन किया जाय तो ऐसी दशा में वस्तुओं के मूल्य और दाम सदा बराबर रहेंगे, उनमें किसी प्रकार की असमानता उत्पन्न नहीं होगी। परन्तु हमारे समाज में (पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर-गत) उत्पादन की इस प्रकार की कोई योजना नहीं बनाई जाती। उत्पादन के क्षेत्र में इस प्रकार की योजना विहीनता और अस्त व्यस्तता का परिणाम यह होता है कि कभी किसी वस्तु का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो कभी किसी वस्तु का कम। जब किसी वस्तु का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो

---

1. Free Competetion.

2. Value and price,

पूर्ति[1] की अधिकता के कारण विक्रेताओं में आपसी स्पर्द्धा अथवा प्रतियोगिता अधिक तीव्र हो जाती है साथ ही मांग[2] की कमी के कारण खरीदारों में आपसी प्रतियोगिता घट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादित वस्तु का दाम घट जाता है और कभी-कभी वह सामान्य मूल्य से कम दामों पर बिकने लगती है। इसके विपरीत जब कभी किसी वस्तु का उत्पादन आवश्यकता से कम हो जाता है तो पूर्ति की अपेक्षा मांग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप वस्तु अपने सामान्य मूल्य से अधिक दामों पर बिकने लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि दाम, मांग और पूर्ति के द्वारा नियंत्रित बाजार की स्थिति के अनुसार घटते और बढ़ते रहते हैं अतः मूल्य और दाम की एक-रसता नहीं रह पाती।[3]

मांग और पूर्ति पर आधारित व्यापारियों की स्वतंत्र प्रतियोगिता का परिणाम यह होता है कि पण्य का दाम और उससे प्राप्त होने वाला मुनाफा एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ने पाता है। उदाहरण के लिए यदि समाज में रेशमी कपड़े की मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है और सूती कपड़े की मांग पूर्ति की अपेक्षा घट जाती है तो इसके फलस्वरूप रेशमी कपड़े के दाम बढ़ने लगते हैं और सूती कपड़े के दाम घटने लगते हैं। यदि मजदूरी और कच्चे माल के मूल्य में परिस्थितिवश कोई वृद्धि न हो तो दोनों के उत्पादन की लागत में कोई परिवर्तन नहीं होता है। फलतः रेशमी कपड़े के दाम में जितनी वृद्धि होती जाती है उस पर मुनाफा भी उसी अनुपात में बढ़ता जाता है। इसके विपरीत सूती कपड़े के दामों में जितनी कमी होती जाती है उसी अनुपात में उस पर मुनाफा भी घटता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अधिक लाभ से आकर्षित होकर उत्पादनकर्ता अपनी पूँजी को सूती कपड़े के उत्पादन में न लगा कर रेशमी कपड़े के उत्पादन में अधिकाधिक लगाने लगते हैं। कुछ दिनों में रेशमी कपड़े का उत्पादन अधिक हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसके

---

1. Supply.

2. Demand.

3. 'It should be recollected that prices always vary in the market, and in the first instance, through the comparative state of demand and supply.'

David Ricardo—The Principles of Political Economy and Taxation, P. 71.

दाम और उससे प्राप्त होने वाला मुनाफा भी घट कर सामान्य स्तर पर आ जाता है। इस प्रकार प्रत्येक उद्योगपति उत्पादन के अधिक लाभ दायक क्षेत्र में ही सदा अपनी पूंजी को लगाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अतः रिकार्डो के अनुसार मांग और पूर्ति पर आधारित मुक्त प्रतियोगिता उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में संतुलन बनाए रखती है तथा पण्य के दाम और उससे प्राप्त होने वाले मुनाफे को एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने देती।'

रिकार्डो का यह सिद्धान्त कि किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण उसके उत्पादन में लगाई गई श्रम की मात्रा के आधार पर होना चाहिए तभी चरितार्थ हो सकता है जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अपने लिए काम धन्धों को चुन सकने की स्वतन्त्रता हो। यदि किसी समाज में व्यक्तियों पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिए जायं जिसके फलस्वरूप वे स्वतन्त्रता पूर्वक अपने लिए उद्योग धन्धों का चुनाव न कर सके तो इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादनकर्ता अपनी पूंजी को मनमाने ढंग से अधिक लाभप्रद उद्योग धन्धों में नहीं लगा सकेंगे और मुक्त प्रतियोगिता का आधार ही समाप्त हो जायगा। मुक्त प्रतियोगिता के अभाव में न तो पण्य के दाम और उससे मिलने वाले मुनाफे पर ही कोई नियंत्रण रह सकेगा और न मांग और पूर्ति में ही किसी प्रकार का संतुलन सम्भव हो सकेगा। अतः रिकार्डो के मतानुसार मुक्त प्रतियोगिता के नियम की रक्षा के लिए समाज में व्यक्तियों को मनमाने ढंग से काम धन्धों का चुनाव करने की स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है।

इसी आधार पर रिकार्डो ने यह भी बतलाया कि उत्कृष्ट कला कृतियां आदि कुछ वस्तुएं ऐसी भी हैं जिनके दाम या मूल्य उनके उत्पादन में लगी श्रम की मात्रा के आधार पर निर्धारित नहीं किए जा सकते क्योंकि वे वस्तुएं मुक्त प्रतियोगिता के

---

1. 'It is then the desire which every capitalist has of diverting his funds from a less to a more profitable employment that prevents the market price of commodities from continuing for any length of time either much above or much below their natural price. It is this competetion which so adjusts the changeable value of commodities.'

   David Ricardo--The Principles of Political Economy and Taxation, P. 50.

अन्तर्गत नही आती ।[1] यही बात उन वस्तुओं के बारे में भी कही जा सकती है जो एकाधिकार के अन्तर्गत होती हैं। इन वस्तुओं के दाम या मूल्य भी उत्पादन में व्यय हुए श्रम की मात्रा के आधार पर निर्धारित नहीं किए जा सकते क्योंकि यह वस्तुए भी मुक्त प्रतियोगिता के क्षेत्र से बाहर रहती हैं। अतः रेकार्डो ने यह निष्कर्ष निकाला कि उत्पादन में लगी श्रम की मात्रा के आधार पर मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त केवल उन्हीं वस्तुओं पर घटित हो सकता है जो मुक्त प्रतियोगिता के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं।[2] हमारे समाज में ऐसी अनेक वस्तुयें हैं जिन पर मुक्त प्रतियोगिता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार की वस्तुओं का मूल्यांकन भी रिकार्डो के उपयुक्त श्रम सिद्धान्त के आधार पर नही किया जा सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि फिर उन वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किस आधार पर किया जाय जो मुक्त प्रतियोगिता की परिधि से बाहर रहती हैं। यह प्रत्यक्ष ही है कि उत्कृष्ट कला कृतियाँ, वैज्ञानिकों के आविष्कार, एकाधिकार द्वारा नियंत्रित पण्य आदि ऐसी अनेक वस्तुयें हैं जिनका मूल्य निर्धारण उनके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा के आधार पर नहीं किया जाता है। तो फिर वह कौन सा मान दण्ड हो सकता है जिसके आधार पर इस प्रकार की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किया जाय ? रिकार्डो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सका।

---

1. 'There are some commodities, the value of which is determind by their scarcity alone. No labour, can increase the quantity of such goods, and therefore, their value cannot be lowered by an increased supply.'

   David Ricardo--The Principles of Political Economy and Taxation, P. 6.

2. 'In speaking, then of commodities of their exchangeable value and of laws which regulate their relative prices, we mean always such commodities only as can be increased in quantity by the exertion of human industry, and on the production of which competetion operates without restraint.'

   David Ricardo--The Principles of Political Economy and Taxation, P. 6.

कार्ल मार्क्स ही वह अर्थशास्त्री था जिसने इस समस्या का तर्क सम्मत समाधान अपने मूल्य के श्रम सिद्धान्त के द्वारा प्रस्तुत किया जिसका उल्लेख हम आगामी प्रसंग में कर रहे हैं।

मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त

मार्क्स इस बात मे रिकार्डो से पूर्णतः सहमत है कि वस्तुओं का मूल्य उनके उत्पादन में व्यय हुई श्रम की मात्रा के आधार पर निर्धारित किया जाता है, परन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिए उसने रिकार्डो के तर्कवाद का अनुगमन न करके अपना एक निराला ही ढंग निकाला जिसे हम मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त कहते हैं। मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन ऐसी स्पष्टता के साथ तथा ऐसे मौलिक एवं तर्कसम्मत ढंग से किया कि उससे मूल्य निर्धारण संबन्धी उन समस्त समस्याओं का समाधान हो गया जिनका उत्तर देने में रिकार्डो का सिद्धान्त असमर्थ था।

वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था माल[1] उत्पादन पर ही आधारित है। अतः मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन माल के उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य इन दोनों पक्षों की व्याख्या से प्रारम्भ किया। उसने बतलाया कि हवा पानी आदि ऐसी अनेक वस्तुयें हैं जिनका उपयोग मूल्य तो अधिक है परन्तु बाजार में उनका विनिमय मूल्य कुछ भी नहीं है। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओं की उपयोगिता मानवीय श्रम का परिणाम नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति अपने निजी उपभोग के लिए अपने ही परिश्रम से किसी वस्तु का उत्पादन करता है तो मानवीय श्रम और उपयोग मूल्य दोनों के होते हुए भी उसे पण्य या माल की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। मार्क्स के कथनानुसार पण्य या माल के उत्पादन

1. Commodity.

के लिए केवल मात्र उपयोग मूल्यों की सृष्टि ही पर्याप्त नही है, इसके लिए सामाजिक उपयोग मूल्य अर्थात् दूसरों के लिए उपयोग मूल्य का होना भी आवश्यक है।[1]

मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त को समझने के लिए माल की उपर्युक्त व्याख्या को ध्यान में रखते हुए हम किसी ऐसी बाजार की कल्पना करलें जिसमें मुद्रा का प्रचलन न हो और उत्पादित वस्तुओं का पारस्परिक विनिमय किया जाता हो। ऐसी बाजार में दृष्टान्त के लिए हम मान लें कि एक जुलाहा बीस गज कपड़ा बना कर लाता है और एक दर्जी एक कोट बनाकर लाता है। दोनों एक दूसरे से अपनी-अपनी वस्तुओं को बदलने के लिए तैयार हो जाते हैं। जुलाहा इसी प्रकार विनिमय में अपने बनाए हुए और कपड़े को देकर अपने उपयोग की अन्य सामग्री भी प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए बीस गज कपड़ा देकर एक चारपाई लेता है, फिर बीस गज कपड़ा देकर एक बोरी गेहूं लाता है। इसका आशय यह हुआ कि विनिमय में प्राप्त की गई समस्त वस्तुओं का मूल्य बराबर है अर्थात् बीस गज कपड़े का जो विनिमय मूल्य है वही एक कोट, एक चारपाई या एक बोरी गेहूं का भी है। यह सब वस्तुयें ऐसी हैं जिनका विनिमय मूल्य तो बराबर है परन्तु वे जुलाहे की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। कोट से उसकी शरीर रक्षा होती है, चारपाई सोने के काम आती है तो गेहूं से उसकी क्षुधा का निवारण होता है। अतः विनिमय मूल्य एक होते हुए भी प्रत्येक वस्तु का उपयोग अलग-अलग है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न वस्तुओं (माल) की उपयोग मूल्य सम्बन्धी विभिन्नता ही समस्त विनिमय व्यापार का मूल्य है, क्योंकि किसी वस्तु को बदल कर ठीक उसी प्रकार की वस्तु को लेना कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विनिमय व्यापार में हस्तान्तरित होने वाली अनेक वस्तुएँ कच्चे माल की दृष्टि से और उपयोग मूल्य की दृष्टि से विभिन्न होते हुए भी किस आधार पर एक दूसरे के बराबर समझ ली जाती हैं? समता सूचक वह कौन सा तत्व है जो इन विभिन्नताओं के होते हुए भी माल में समान विनिमय मूल्य की स्थापना करता है? इसका उत्तर देते हुए **मार्क्स** कहता है कि विभिन्न उपयोग मूल्य रखनेवाली दो वस्तुओं को बराबर समझ कर जब उनका विनिमय किया जाता है

---

1. 'To produce commodities he must produce, not use values merely, but use-values for others—Social Use-values.'
Karl Marx—Capital Vol. I, P. 9.

तो इसका आशय यह होता है कि **एक वस्तु में विद्यमान मानवीय श्रम की मात्रा दूसरी वस्तु में विद्यमान मानवीय श्रम की मात्रा के बराबर हैं।**' यही दोनों की समता का एक मात्र आधार हो सकता है। प्रत्येक माल मानवीय श्रम की ही उपज है। कपड़ा बनाने में जुलाहे ने अपनी श्रम शक्ति को लगाया है इसी प्रकार कोट बनाने में दरजी ने भी अपनी श्रम शक्ति को लगाया है। प्रत्येक माल के उत्पादन में व्यय हुई यह श्रम शक्ति ही वह समता सूचक तत्व है जो एक वस्तु को दूसरी से विनिमय के योग्य बनाता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **माल के विनिमय मूल्य को निर्धारित करने का एक ही आधार हो सकता है और वह है मानवीय श्रम।**'

मानवीय श्रम के प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में एक विशिष्ठ प्रकार के श्रम की आवश्यकता पड़ती है। जुलाहे का श्रम दरजी के श्रम से भिन्न प्रकार का है इसी तरह एक अध्यापक का श्रम किसान के श्रम से भिन्न प्रकार का है। विनिमय व्यापार में श्रम की इन अलग अलग विशिष्टताओं की ओर ध्यान न देकर मानवीय श्रम के सामान्य रूप अर्थात् 'श्रम शक्ति' को ही दृष्टि में रखा जाता है।' जब हम बीस गज कपड़े को एक कोट के बराबर मान लेते हैं तो

---

1. 'When the coat as thing having value is equated with the linen, the labour embodied in the coat is equated with the labour embodied in the linen.'

   Karl Marx—Capital, Vol. I, P. 20.

2. 'The relative value of commodities are, therefore, determined by the respective quantities or amount of labour, worked up, realized, fixed in them.'

   Karl Marx—Wages Price and Profit, P. 43.

3. 'It is the reduction of all kinds of actual labour to their common characteristic of being human labour, of being the expenditure of human labour power.'

   Karl Marx—Capital Vol. I, P. 40.

इससे हमारा आशय केवल यही होता है कि बीस गज कपड़ा बनाने में मानवीय श्रम शक्ति की जो मात्रा लगाई गई है वही एक कोट के बनाने में भी लगी है ।

यहाँ पर आकर मूल्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में रिकार्डो और मार्क्स के दृष्टिकोण का अन्तर पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है । रिकार्डो का सिद्धान्त केवल उन्हीं वस्तुओं तक सीमित है जिनका उत्पादन मुक्त प्रतियोगिता के अन्तर्गत हुआ है जबकि मार्क्स का सिद्धान्त बिना किसी अपवाद के समस्त पण्य को अपनी सीमा के अन्तर्गत ले लेता है, चाहे वह एकाधिकार के द्वारा नियंत्रित हो या कोई उत्कृष्ट या दुर्लभ कलाकृति ही क्यों न हो । मार्क्स की उपर्युक्त धारणा के अनुसार विनिमय व्यापार में जब दो वस्तुएं हस्तान्तरित होती हैं तो इसका आशय यह होता है कि समानता के आधार पर एक प्रकार से हम उनकी तुलना करते हैं । आकार-प्रकार और उपयोग में विभिन्न इन वस्तुओं में समता सूचक एक ही तत्व हो सकता है और वह है उनमें समाहित मानवीय श्रम शक्ति । अतः वस्तुओं के उत्पादन में व्यय हुई श्रम शक्ति ही विनिमय व्यापार में उसके मूल्यांकन का एक मात्र आधार हो सकती है ।

मानवीय श्रम को मूल्य निर्धारण का आधार मान लेने पर प्रश्न यह उठता है कि किसी वस्तु में लगी श्रम शक्ति को नापने के लिए हमें किस मापदण्ड का प्रयोग करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में मार्क्स का कथन है कि **किसी वस्तु में समाहित मानवीय श्रम को उस वस्तु के उत्पादन में लगाए गए श्रमकाल के आधार पर नापना चाहिए । इस श्रमकाल को घण्टा, दिन आदि के रूप में नापा जा सकता है ।**[1] हम बीस गज कपड़ा एक कोट से इस लिए बदलते हैं कि जितना श्रमकाल बीस गज कपड़ा बनाने में लगा है उतना ही एक कोट बनाने में भी लगा है । अब एक समस्या यह उत्पन्न होती है कि प्रत्येक व्यक्ति की श्रमशक्ति समान कोटि की नहीं होती है । एक आलसी व्यक्ति जिस काम को करने में बहुत समय लगाता है उसी काम को एक परिश्रमी और कुशल व्यक्ति थोड़े समय में ही कर लेता है । ऐसी परिस्थिति में श्रम·

---

1. 'How are we to measure this value ? In terms of the quantity of 'value creating' substance it contains—the quantity of labour. This is itself measured by its duration, and labour time in turn, is measured by hours, day etc.'

Karl Marx—Capital, Vol. I, P. 7.

काल का एक रूप मापदण्ड कैसे सम्भव हो सकता है ? इस समस्या का समाधान करते हुए मार्क्स कहता है कि **सामाजिक औसत श्रम काल**[1] ही हमारे मापदण्ड का एक मात्र आधार हो सकता है । व्यक्तियों की निजी श्रमशक्ति को श्रमकाल के मापदण्ड का आधार नहीं बनाया जा सकता । 'सामाजिक' शब्द पर विशेष बल देते हुए वह कहता है कि किसी वस्तु का मूल्य श्रम की वह मात्रा नहीं है जो एक व्यक्ति विशेष उस वस्तु के उत्पादन में लगाता है बल्कि औसत श्रम की वह मात्रा है जो उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों के अन्तर्गत एक औसत दर्जे के श्रमिक द्वारा उस वस्तु के उत्पादन में लगाई जानी चाहिए ।[2]

जब किसी वस्तु में समाहित श्रम की मात्रा को हम श्रमकाल के आधार पर नापना चाहते हैं तो श्रमकाल का एक प्रमाणित मापदण्ड भी होना चाहिए । समाज के सब व्यक्तियों का श्रम समान कोटि का नहीं हो सकता है । किसी को अपना कार्य आरम्भ करने से पहले वर्षों की शिक्षा एवं पूर्वाभ्यास की आवश्यकता पड़ती है तो किसी को किंचित मात्र भी नहीं, दूसरे शब्दों में कोई निपुण श्रमिक है तो कोई अनिपुण ।[3] ऐसी स्थिति में निपुण और अनिपुण दोनों प्रकार के श्रमिकों के श्रमकाल को नापने के लिए किसी एक ही मापदण्ड का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? इसका समाधान करते हुए मार्क्स कहता है कि **निपुण श्रम वास्तव में अनिपुण श्रम का ही एक प्रकार से घनीभूत रूप है, इसके अतिरिक्त दोनों में तत्वतः अन्य कोई अंतर नहीं है ।**[4]

---

1. Social average labour time.

2. 'Socially necessary labour time is the labour time requisite for producing a use value under the extant social and average conditions of production and with the average degree of skill and intensity of labour.'

   Karl Marx—Capital Vol. I, P. 7.

3. Skilled labour and unskilled labour.

4. 'Skilled Labour counts only as intensified or rather multiplied simple labour, so that a smaller quantity of skilled labour is equal to a larger quantity of simple labour.'

   Karl Marx—Capital, Vol. I, P. 13.

उदाहरण के लिए एक अणुविज्ञान विशेषज्ञ एक घंटा काम करके उतना ही कमा लेता है जितना एक अनिपुण श्रमिक बीस घंटा अथवा और अधिक काम करने के बाद पाता हैं। इसका कारण यह है कि उक्त विशेषज्ञ ने अपने काम को सीखने में अनेक वर्षों का समय लगाया है और अपनी शिक्षा में प्रचुर मात्रा में धन भी व्यय किया है। अत: उसके एक घंटे के श्रम में उन अनेक घटों का श्रम भी सम्मिलित है जो वह अपनी शिक्षा दीक्षा में लगा चुका है। इसीलिए उस निपुण विशेषज्ञ का एक घटे का श्रम अनिपुण श्रमिक के बीस घंटे के श्रम के बराबर समझा जाता है। दूसरे शब्दों में उसका एक घटे का निपुण श्रम बीस घंटे के अनिपुण श्रम का ही केन्द्रित रूप है। अत: श्रमकाल के मापदण्ड का आधार सामान्य कोटि का ऐसा अनिपुण श्रम ही होना चाहिए जिसके लिए किसी प्रकार के पूर्वाभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार अनिपुण श्रम को श्रमकाल के प्रमापण की इकाई मान कर निपुण श्रम का मूल्यांकन भी सुगमता पूर्वक किया जा सकता है।

पण्य के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात और भी है जिस पर इसी प्रसंग में विचार कर लेना आवश्यक है। वह है मूल्य पर मांग और पूर्ति का प्रभाव। किसी पण्य का वास्तविक मूल्य तो उसमें समाहित श्रम की मात्रा के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है जिसमें उत्पादन काल में व्यय हुए श्रम के अतिरिक्त कच्चे माल और मशीन औजार आदि के रूप में संचित पूर्व श्रम की मात्रा भी सम्मिलित रहती है।[1] जब उत्पादित पण्य को विनिमय या विक्रय के लिए हम बाजार में ले जाते हैं तो यह कहना कि एक कोट का दाम बीस गज कपड़ा है या एक कोट का दाम एक बोरी गेहूं है, कुछ सुविधाजनक प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार यह कहना कि एक कोट का दाम दस घंटे का श्रमकाल है, ठीक नहीं लगता। अत: सुविधा के विचार से पण्य का दाम मुद्राओं में व्यक्त किया जाने लगता है। बाजार की विशेष

---

1. 'In calculating the exchangeable value of a commodity we must add to the quantity of labour last employed, the quantity of labour previously worked up in the raw material of the commodity and the labour bestowed on the implements, tools, machinery and buildings, with which such labour is assisted.'

Karl Marx—Wages Price and Profit, P. 45.

परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक नहीं है कि पण्य का वास्तविक मूल्य और बाजार का दाम सदा एक ही स्तर पर रहे। अनेक कारणों से उनमें अंतर आने लगता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति बाजार में ऐसे कोट बना कर लाता है जिनका चलन उठ चुका है तो उनको खरीदने वाले भी कम ही मिलेंगे। मांग कम होने से कोट का बाजार का दाम उसके वास्तविक मूल्य से भी कम हो जायगा। उत्पादित वस्तु की सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता उसके बाजार के दाम को निरन्तर प्रभावित करती है। बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए यदि हम इस बात की कल्पना कर लें कि किसी समाज को किसी समय ५० हजार गज कपड़े की आवश्यकता है परन्तु बाजार में ८० हजार गज कपड़ा बन कर आ गया है अर्थात् ३० हजार गज कपड़ा ऐसा है जिसकी समाज को उस समय आवश्यकता नहीं है। इसका परिणाम यह होगा कि बेचने वालों में प्रतियोगिता आरम्भ होगी और कपड़े का बाजार का दाम उसके वास्तविक मूल्य से उसी अनुपात से कम होता जायगा जिस अनुपात में मांग की अपेक्षा पूर्ति की अधिकता है। विपरीत अवस्था में पूर्ति की अपेक्षा मांग के प्रबल हो जाने से कपड़े का दाम भी उसी अनुपात में बढ़ता जायगा। यदि समाज को ५० हजार गज कपड़े की आवश्यकता है और संयोग वश केवल ५० हजार गज कपड़ा ही बन कर बाजार में आया है तो मांग और पूर्ति के सम हो जाने से कपड़े का वास्तविक मूल्य और बाजार का दाम भी बराबर हो जायगा।[1] अतः इस समस्त विश्लेषण के पश्चात हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि मांग और पूर्ति का प्रभाव पण्य के बाजार भाव के चढ़ाव उतार तक ही सीमित रहता है। मार्क्स के अनुसार श्रमकाल के आधार पर वस्तुओं के वास्तविक मूल्य निर्धारण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[2]

---

1. 'At the moment when supply and demand equilibrate each-other, and therefore cease to act, the market price of a commodity coincides with its real value, with the standard price round which its market prices oscillate.'

   Karl Marx—Wage Price and Profit, P. 35.

2. 'Supply and demand regulate nothing but the temporary fluctuations of market prices. They explain to you why the market price of a commodity rises above or sinks below its value, but they can never account for that value itself.'

   वही, पृ० १५।

वैसे तो अलग अलग उत्पादकों द्वारा एक ही प्रकार की उत्पादित वस्तुओं का वास्तविक मूल्य उत्पादनगत परिस्थितियों की विभिन्नता के अनुसार अलग अलग होता है परन्तु जब हम उत्पादित वस्तु को बाजार में ले जाते हैं तब वह बाजार में विद्यमान, उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की राशिगत एकता का अंग बन जाती है और उस श्रेणी की समस्त वस्तुओं के बाजार के दाम एक ही रहते हैं, भले ही व्यक्तिगत उत्पादकों की उत्पादनगत परिस्थितियां एक दूसरे से कितनी ही भिन्न क्यों न रही हों। इसका आशय यह हुआ कि बाजार के दाम, उत्पादन की औसत परिस्थितियों के अन्तर्गत, उस वस्तु के उत्पादक के लिए आवश्यक औसत सामाजिक श्रम को व्यक्त करते हैं।[1] यहाँ तक तो पण्य के बाजार के दाम और वास्तविक मूल्य में कोई अंतर नहीं होता परन्तु जब मांग और पूर्ति संबंधी परिस्थितियां अपना प्रभाव डालने लगती हैं तब बाजार के दाम वास्तविक मूल्य की अपेक्षा कभी अधिक हो जाते हैं और कभी कम। उसमें चढ़ाव उतार की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

मार्क्स का यह सिद्धान्त श्रम की सामाजिक उपयोगिता पर विशेष बल देता है और इसी आधार पर वह समस्त आर्थिक प्रवृत्तियों का विवेचन और विश्लेषण करता है। प्रत्येक समाज की समष्टिगत श्रमशक्ति की एक सीमा होती है और इसी प्रकार उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की भी एक सीमा होती है। जिस समाज में उत्पादन योजना बद्ध होता है और सीमाओं का ध्यान रखा जाता है वहाँ पण्य के वास्तविक मूल्य और बाजार के दाम में संतुलन बना रहता है, परन्तु जहाँ उत्पादन योजना विहीन होता है वहां मांग और पूर्ति संबंधी परिस्थितियों के फलस्वरूप बाजार के दामों में चढ़ाव उतार होता रहता है। यदि किसी समाज में किसी समय एक लाख घंटे का श्रमकाल उपलब्ध है तो वह समाज खाने कपड़े से लेकर अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति श्रम काल के इसी समष्टिगत कोष से ही करेगा। मान लें कि उस समाज को एक हजार कम्बलों की आवश्यकता है और एक कम्बल के उत्पादन में छः घंटे का औसत सामाजिक श्रम काल लगता है तो इसका आशय यह हुआ कि

---

1. 'The market price expresses only the average amount of social labour necessary, under the average conditions of production, to supply the market with a certain mass of a certain article.'

Karl Marx—Wages Price and Profit. P. 51.

वह समाज कम्बलों की आवश्यकता पूर्ति के लिए छः हजार घण्टों का श्रम काल ही नियत कर सकता है। योजना के अभाव में यदि बाजार में बारह सौ कम्बल आते हैं तो पूर्ति की अपेक्षा मांग घट जायगी और छः हजार घंटों का श्रम काल ही बारह सौ कम्बलों पर बंट जायगा क्योंकि समाज को इस कार्य के लिए केवल छः हजार घंटों के श्रम काल की ही आवश्यकता है। यदि कम्बलों पर इससे अधिक श्रमकाल व्यय किया जायगा तो उसकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं होगी अतः एक कम्बल का दाम अब छः घण्टे के औसत सामाजिक श्रम के बराबर न होकर, केवल पांच घंटे (६००० ÷ १२०० = ५) के बराबर ही रह जायगा। इसके प्रतिकूल यदि बाजार में एक हजार के स्थान पर छः सौ कम्बल ही आते हैं तो मांग बढ़ जायगी और एक कम्बल का दाम छः घंटे के औसत श्रम के स्थान पर दस घंटे (६००० ÷ ६०० = १०) के श्रमकाल के बराबर हो जायगा।

इसी आधार पर अब हम बाजार में दुर्लभ वस्तुओं और उत्कृष्ट कला कृतियों के दाम की भी व्याख्या कर सकते हैं? मान लें कि किसी समाज में किसी समय कला कृतियों के लिए १५ हजार घण्टे का श्रम नियत है परन्तु उस बाजार में केवल पांच कला कृतियां ही उपलब्ध है। तो उनमें से प्रत्येक का बाजार का दाम ३००० घण्टों (१५००० ÷ ५ = ३०००) के श्रम काल के बराबर होगा, भले ही उनके उत्पादन में वास्तविक श्रमकाल कितना ही कम क्यों न लगा हो। यही बात उन वस्तुओं के बारे में भी कही जा सकती है जिनका उत्पादन एकाधिकार के द्वारा नियंत्रित होता है। मार्क्स के इस नियम के अनुसार एकाधिकारी को बाजार में अपनी वस्तुओं के मन माने दाम लेने की अबाध स्वतंत्रता नहीं होती है। उत्पादित वस्तु की जो मात्रा बजार में लाई जाती है और समाज अपनी आवश्यकतानुसार उस वस्तु विशेष के लिए जो सामाजिक श्रम काल नियत कर लेता है दोनों के विभाजन द्वारा हम उस वस्तु के बाजार के दाम का अनुमान कर सकते हैं।

अतः रिकार्डो का सिद्धान्त मूल्य निर्धारण संबंधी जिन समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ था उन समस्त समस्याओं का समाधान मार्क्स ने अपने इस नवीन मूल्य सिद्धान्त के द्वारा बड़ी ही कुशलता पूर्वक प्रस्तुत किया।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स के मूल्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह कहा जा चुका है कि किसी पण्य का वास्तविक मूल्य समाजिक श्रम काल की वह मात्रा है जो उसके उत्पादन के लिए आवश्यक होती है। इस सिद्धान्त को मान लेने पर एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब पण्य का मूल्यांकन उसमें समाहित श्रम की मात्रा के अनुसार ही किया जाता है तो फिर बाजार में उसके क्रय विक्रय द्वारा लाभ की प्राप्ति कैसे होती है ?

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत यह हमारे नित्य के अनुभव की बात है कि पण्य के क्रय विक्रय द्वारा लाभ कमाया जाता है। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि जब पण्य को श्रम शक्ति के आधार पर अनुमानित उसके वास्तविक मूल्य के अनुसार ही बेचा जायगा तो फिर लाभ कैसे होगा। विनियम तो समानता के आधार पर होता है। बाजार में कोई भी व्यक्ति अपनी वस्तु को किसी कम दाम वाली वस्तु से बदलना नहीं चाहता। यदि एक जोड़ा धोती का विनियम एक जोड़ा जूता से किया जाता है तो इसका आशय यही है कि दोनों के उत्पादन में श्रम की समान मात्रा का व्यय हुआ है। यह दूसरी बात है कि बाजार में इस श्रम काल को हम मुद्राओं के माध्यम से व्यक्त करें या किसी अन्य माध्यम से परन्तु इससे विनियम व्यापार की समानता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। मान लें कि एक जोड़ा धोती के उत्पादन के लिए दस घण्टे के सामाजिक श्रम काल की आवश्यकता होती है तथा एक जोड़े जूते के उत्पादन में भी इतना ही श्रम काल लगता है और एक घण्टे का श्रम काल एक रुपया के बराबर है तो बाजार में एक जोड़ा धोती का दाम दस रुपया होगा और इसी प्रकार जूते का दाम भी दस रुपया ही होगा। दस रुपए की वस्तु को देकर विनियम में दस रुपए की वस्तु को प्राप्त करने से किसी प्रकार के लाभ की सम्भावना नहीं हो सकती।

इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि पूंजीपति उद्योग धन्धों में अपनी पूंजी लगाता है और इस पूंजी के बदले ही उसे लाभ की प्राप्ति होती है तो यह कथन भी उचित नहीं होगा क्योंकि केवल मात्र पूंजी किसी वस्तु में नवीन मूल्यों की सृष्टि

नहीं कर सकती। श्रम के अभाव में पूंजी निष्क्रिय और निष्प्राण है। नवीन मूल्यों की सृष्टि का एक ही साधन है और वह है मानवीय श्रम।

बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मान लें कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से १०० रुपए का माल खरीद कर तीसरे व्यक्ति के हाथ ११० रुपए का बेंच देता है। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि पहले व्यक्ति को दस रुपए का लाभ हुआ परन्तु यदि विषय की सूक्ष्मता में प्रवेश किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि समस्त व्यापार द्वारा माल के सामुहिक मूल्य में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई है, केवल उसका वितरण ही एक नए ढंग से हो गया है। इस विक्रय व्यापार से पहले प्रथम व्यक्ति के पास १०० रुपए थे, दूसरे के पास १०० रुपए के बराबर माल था और तीसरे के पास ११० रुपए थे, अर्थात् तीनों की सामूहिक सम्पत्ति का मूल्य ३१० रुपए था। त्रिक्रय व्यापार के पश्चात अब पहले व्यक्ति के पास ११० रुपए, दूसरे के पास १०० रुपए और तीसरे के पास १०० रुपए के बराबर माल हो गया परन्तु तीनों की सम्पति का सामुहिक मूल्य फिर भी ३१० रुपया ही रहा।[1] इससे सिद्ध हो जाता है कि प्रथम व्यक्ति को जो दस रुपए अधिक मिले हैं वह माल में नवीन मूल्यों की सृष्टि के फलस्वरूप नहीं,[2] बरन् उस असाधारण परिस्थिति के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं जिसके अंतर्गत उसने अपने कौशल या बुद्धिबल से तृतीय व्यक्ति को १०० रुपए के माल के बदले ११० रुपए देने के लिए राजी कर लिया। समाज में यदा कदा इस प्रकार के लेन देन हो सकते हैं जब कोई चालाक व्यक्ति किसी कौशल से कम मूल्य की वस्तु के बदले अधिक मूल्य प्राप्त कर ले, परन्तु समाज के आर्थिक जीवन का सामान्य क्रम इस प्रकार की असम्भावित और आकस्मिक घटनाओं के द्वारा संचालित और नियंत्रित नहीं होता है। इसके अतिरिक्त यदि लाभ की उपर्युक्त विधि को मान्यता प्रदान की

---

1. Karl Marx—Capital Vol. I, P·149

2. 'Turn and twist as we may, the sum total remains the same. If equivalents are exchanged, then no surplus value is created, and if non-equivalents are exchanged, still no surplus value is created. Circulation, the exchange of commodities, does not creat value.'

वही, पृ० १५०।

जाय तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि एक व्यक्ति को जितना लाभ होता है दूसरे व्यक्ति को उसी अनुपात में हानि का होना भी अवश्यम्भावी है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में हमें इस प्रकार का प्रमाण प्राप्त नहीं होता। हम देखते हैं कि एक पक्ष की सम्पत्ति दूसरे पक्ष की हानि के बिना भी बढ़ती रहती है। अतः इस प्रकार के उदाहरणों के द्वारा मूल प्रश्न का समाधान नहीं किया जा सकता।

मार्क्स ने इस समस्या पर एक नये ढंग से विचार किया और इस बात की घोषणा की कि **लाभ का मूल कारण है अतिरिक्त मूल्य।**[1] इस अतिरिक्त मूल्य की विस्तृत व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बतलाया कि **वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की श्रमशक्ति ने भी पण्य का रूप धारण कर लिया है और सामान्य पण्य के समान ही बाजार में क्रय विक्रय की एक वस्तु बन गई है।**[2] आर्थिक दृष्टि से माल या पण्य की संज्ञा प्राप्त करने के लिए किसी वस्तु में दो मूल तत्वों का होना आवश्यक है, एक प्राकृतिक और दूसरा सामाजिक। प्राकृतिक तत्व से हमारा तात्पर्य उस स्थूल पदार्थ से है जिसमें किसी मानवीय आवश्यकता को पूर्ण करने की क्षमता हो। सामाजिक तत्व से तात्पर्य वस्तु में समाहित सामाजिक श्रम की मात्रा से है। अमूर्त सामाजिक श्रम अपने अस्तित्व और उपयोगिता को प्राकृतिक तत्व के माध्यम से ही व्यक्त करता है दूसरे शब्दों में प्राकृतिक तत्व के अभाव में सामाजिक तत्व की स्थिति उसी प्रकार अकल्पनीय है जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा की स्थिति। जब हम किसी वस्तु को खरीदते हैं तो उपयोगिता तो ग्रहण करते हैं उसके प्राकृतिक तत्व से परन्तु मूल्य चुकाते हैं उसके सामाजिक तत्व का अर्थात् उसमें समाहित मानवीय श्रमका। इन दो तत्वों के अतिरिक्त कुछ बातें और भी हैं जिनका माल या

---

1. 'The surplus value, or that part of the total value of the commodity in which the surplus labour or unpaid labour of the working man is realized, I call Profit.'
Karl Marx—Wages Price and Profit. P. 66.

2. 'Labour power is therefore, a commodity which its possessor, the wage worker, sells to Capital.'

Karl Marx—Wage Labour and Capital, Marx Engels Selected Works Vol. I, P. 77.

पण्य में होना आवश्यक है। एक तो यह कि प्रत्येक पण्य का कोई मालिक हो जो अपनी सम्पत्ति को जो चाहे कर सकने का अधिकार रखता हो।' दूसरे यह कि पण्य बाजार में बेचने के लिए हो, मालिक के निजी उपयोग के लिये न हो।' मार्क्स के अनुसार आज मानवीय श्रमशक्ति ने पण्य के इन सभी गुणों को धारण कर लिया है।

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था ने एक ओर जहाँ विशाल औद्योगिक कल कारखानों को जन्म दिया है वहाँ दूसरी ओर एक ऐसे सर्वहारा जन समुदाय को भी उत्पन्न कर दिया है जिसके पास न तो अपने औजार हैं और न कच्चा माल खरीदने के लिये पूंजी। अतः जीवन निर्वाह के अन्य साधनों के अभाव में यह जन समुदाय विवश होकर पूंजीपतियों के हाथ अपनी श्रम शक्ति को बेचता है। बाजार में जिस प्रकार वस्तुओं का क्रय विक्रय होता रहता है ठीक उसी प्रकार आज मानवीय श्रम शक्ति भी एक सामान्य पण्य के समान ही खरीदी और बेची जाती है।

अब हमें यह भी देखना चाहिए कि इस श्रम शक्ति रूपी पण्य का वास्तविक मूल्य क्या है? मार्क्सवादी धारणा के अनुसार जिस आधार पर हम बाजार की अन्य वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करते हैं ठीक उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हम श्रम शक्ति का मूल्य भी निर्धारित कर सकते हैं, अर्थात् हमें यह देखना चाहिए कि श्रम शक्ति का उत्पादन किस प्रकार होता है और उसके उत्पादन के लिए कितने सामाजिक

---

1. ' ... ... if its (labour power) owner is to sell it as a commodity, it must be at his own disposal, he must be the actual owner of his capacity for labour, the actual owner of his own person.'

   Karl Marx—Capital Vol. I, P.154.

2. 'If a product is to become a commodity it must not be produced for the direct purpose of satisfying the producers wants............'

   वही, पृ० १५६।

श्रम की आवश्यकता होती है ।[1] यह निर्विवाद है कि मनुष्य का जीवन ही उसकी श्रम शक्ति का मूलाधार है और जीवन की स्थित के लिए शारीरिक सुरक्षा भी अनिवार्य है । मनुष्य श्रम तभी कर सकता है जब उसका शरीर श्रम करने के योग्य हो और शरीर श्रम करने के योग्य तभी हो सकता है जब उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे । अत: श्रम शक्ति के उत्पादन के लिए जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है ।[2] मार्क्स के शब्दों में **"जीवन प्राणीं को अपनी जीवन रक्षा के निमित्त एक निश्चित परिमाण में जीवन निर्वाह की सामग्री की आवश्यकता पड़ती है । इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि श्रम शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल, वह श्रम काल है जो जीवन निर्वाह की इस सामग्री के उत्पादन के लिए** आवश्यक होता है अथवा दूसरे शब्दों में **श्रम शक्ति का मूल्य जीवन निर्वाह की उस सामग्री के बराबर होता है जो श्रम शक्ति को धारण करने वाले व्यक्ति के जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक होती है ।"**[3]

---

1. 'The value of labour power like that of every other commodity is determined by the labour time necessary for the production..................'

   Karl Marx—Capital Vol. I, P. 154.

2. 'The labouring power of a man exists only in his living individuality. A certain mass of necessaries must be consumed by a man to grow up and maintain his life.'

   Karl Marx—Wages Price and Profit, PP. 56—57.

3. 'Now that living individual requires for his maintenance a certain amount of means of subsistence. This leads us to the conclusion that the labour time necessary for the production of these means of subsistence, or in other words, that the value of labour power is the value of the means of subsistence necessary for the maintenance of the owner of labour power.'

   Karl Marx—Capital Vol. I, P. 158.

श्रम शक्ति का मूल्यांकन करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समस्त व्यक्तियों की जीवन निर्वाह संबंधी आवश्यकतायें सदा एक समान नहीं हो सकती। उनमें प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप पर्याप्त विभिन्नता आ जाती है। ठण्डे देश वालों की आवश्यकतायें सामान्यतः गरम देश वालों की अपेक्षा अधिक होती हैं। इसी प्रकार सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत देश वालों की आवश्यकतायें भी पिछड़े हुए देश वालों की अपेक्षा अधिक होती हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिक के जीवन की भी एक सीमा होती है। एक अवस्था के बाद वह अशक्त और वृद्ध होने लगता है तथा उसी अनुपात में उसकी श्रम शक्ति का भी ह्रास होने लगता है। अतः श्रम शक्ति को खरीदने वाले पूँजीपतियों को इस बात की भी चिन्ता करनी पड़ती है कि उनके कल कारखानों को चलाने वाला मानवीय श्रम का यह स्रोत सूख कर समाप्त न हो जाय। यह तभी संभव हो सकता है जब श्रमिक को ऐसी सुविधायें प्राप्त हों जिससे वह पारिवारिक जीवन व्यतीत करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपने वर्ग की अभिवृद्धि करता रहे। इतना ही नहीं, बल्कि वह अपने परिवार और बच्चों के भरण पोषण में भी समर्थ हो सके ताकि उसके यही बच्चे बड़े होकर उसके वृद्ध और अशक्त हो जने के बाद उसका स्थान ग्रहण कर सकें।[1] अतः श्रम शक्ति का मूल्यांकन करते समय श्रमिक की जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं में उसकी निजी आवश्यकताओं के अतिरिक्त जिस देश में वह रहता है उस देश विशेष की प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप उसके परिवार की आवश्यकताओं को भी सम्मिलित करना आवश्यक है।[2]

---

1. 'Besides the mass of necessaries required foı his own maintenance, he wants another amount of necessaries to bring up a certain quota of children that are to replace him on the labour market and to perpetuate the race of labourers.'

   Karl Marx—Wages Price and Profit, P. 57.

2. '..........the value of labouring power is determind by the value of the necessaries required to produce, develop, maintain and perpetuate the labouring power.'

   वही, पृ० ५८।

अब यदि यह मान लिया जाय कि एक श्रमिक को एक दिन काम करने योग्य श्रमशक्ति को प्राप्त करने के लिए जीवन निर्वाह सम्बन्धी जिस सामग्री की आवश्यकता होती है उसे वह पांच घण्टे के परिश्रम द्वारा प्राप्त कर लेता है तो इसका आशय यह हुआ कि उसकी एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य पांच घण्टे के श्रम काल क बराबर है। परन्तु जब वह किसी कारखाने में काम करने के लिए जाता है तो पूँजीपति केवल पांच घण्टे के बाद ही दिन भर की मजदूरी देकर उसकी छुट्टी नहीं कर देता। यदि काम का दिन दस घण्टे का नियत है तो वह उससे पूरे दस घण्टे काम लेने के बाद ही दिन भर की मजदूरी देता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में हम इस तरह कह सकते हैं कि पूंजीपति श्रमिक से काम तो दस घण्टे कराता है परन्तु मजदूरी उसे पांच घण्टे की ही देता है क्योंकि उसकी दिन भर की श्रम शक्ति का वास्तविक मूल्य जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पांच घण्टे के सामाजिक श्रम काल के ही बराबर है। श्रमिक प्रथम पांच घण्टे काम करके अपनी श्रमशक्ति के वास्तविक मूल्य को प्राप्त करता है तो बाकी पांच घण्टों में पूजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य की सृष्टि करता है।

यदि श्रम शक्ति का मूल्य मुद्रा में व्यक्त किया जाय और एक घण्टे का श्रम एक रुपया के बराबर मान लिला जाय तो उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर हम कहेंगे कि श्रमिक की एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य पांच रुपया है क्योंकि उसे अपने और अपने परिवार के एक दिन के भरण पोषण के लिए पांच रुपए की आवश्यकता होती है। पूंजीपति पांच रुपया देकर श्रमिक की दिन भर की श्रमशक्ति को खरीद लेता है "क्योंकि सम्पति विहीन मजदूर आपस में होड़ लगाते हैं और इस प्रकार अपनी श्रम-शक्ति के दामों (मजदूरी) को इस हद तक नीचे गिरा कर ले जाते हैं जहां वे केवल जीवित रह सकते हैं।"[1] काम का एक दिन दस घण्टे का नियत है अतः पूंजीपति पांच रुपया देकर अपने कारखाने में श्रमिक से दस घण्टा काम कराता है। एक घण्टे का श्रम एक रुपया के बराबर है अतः श्रमिक पूँजीपति के कारखाने में दस घण्टा काम करके उसके कच्चे माल में दस रुपया के बराबर उपयोग मूल्य की सृष्टि करता है। पूंजीपति पूंजी का स्वामी है और श्रमिक की श्रमशक्ति को भी खरीद लेता है अतः वह श्रमिक के श्रम से तैयार की गई वस्तु का भी स्वामी बन जाता है। उस वस्तु को बाजार के दाम पर बेच कर अपने लिए उस भाग को बचा लेता है जो माल के बाजार के दाम का और श्रमिक को दिये गए श्रमशक्ति के दाम का अन्तर है।

---

१. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० ११।

(इस में उत्पादन का वह खर्च भी, जो मशीनरी और कच्चे माल आदि को खरीदने में होता है जोड़ दिया जाता है)। मान लें कि पूंजीपति ने मशीनरी और कच्चे माल आदि के रूप में दस रुपये व्यय किए हैं और श्रमिक के दिन भर की श्रमशक्ति के मूल्य के रूप में पांच रुपए दिए हैं तो उसकी कुल लागत पन्द्रह रुपया हुई परन्तु श्रमिक ने दस घण्टा काम करके कच्चे माल में दस रुपया के मूल्य की वृद्धि की है इसलिए पूंजीपति बाजार में उस वस्तु को बीस रुपया को बेचता है और दोनों के अन्तर अर्थात् (२० — १५ = ५) पांच रुपया को अपने लिए बचा लेता है। यही अतिरिक्त मूल्य है।[1]

मार्क्स के अनुसार श्रमशक्ति ही एक ऐसा पण्य है जो अतिरिक्त मूल्य को जन्म देता है क्योंकि "श्रम के उत्पादन के मूल्य और स्वयं श्रमशक्ति के मूल्य में अन्तर है। पहले प्रकार का मूल्य (सामाजिक आवश्यकतानुसार) श्रम की उस मात्रा से निर्धारित होता है जो (साधारण दशाओं में) उसके उत्पन्न करने में व्यय होती है और दूसरा (श्रमशक्ति) उस श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है जो मजदूर और उस के परिवार के आवश्यक भरण पोषण के लिए पर्याप्त माल के उत्पादन में लगता है।"[2] दोनों का यह अन्तर ही अतिरिक्त मूल्य की सृष्टि करता है। **मार्क्स के शब्दों में श्रमशक्ति के लिए आवश्यक भरण-पोषण का दैनिक मूल्य और श्रमशक्ति का दैनिक उत्पादन यह दो अलग-अलग बातें हैं। पहली श्रमशक्ति के विनमय मूल्य को व्यक्त करती है और दूसरी उसके उपयोग मूल्य को।"**[3] इस प्रकार श्रम का अपने वास्तविक मूल्य से अधिक उत्पादन करने का यह गुण ही वह प्रधान कारण है जो वर्तमान आर्थिक जीवन में अतिरिक्त मूल्य के माध्यम से लाभ को जन्म देता है।

---

1. Karl Marx—Capital, Vol. I, PP. 188—189.

२. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० ११-१२।

3. 'The daily cost of maintenance of labour power, and the daily output of labour power, are two very different things. The former determines the exchange value of labour power, the latter, its use value.'

   Karl Marx—Capital Vol. I, P. 187.

अतिरिक्त मूल्य और लाभ

यदि श्रमिक के पास अपने औजार और अपना कच्चा माल हो तो अपनी श्रम-शक्ति से उत्पादित वस्तु का स्वामी वह स्वयं होगा और ऐसी दशा में उसके श्रम से उत्पन्न होने वाला अतिरिक्त मूल्य भी उसी के पास रहेगा, परन्तु इस वर्तमान पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत कच्चा माल, ज़मीन, कल कारखाने आदि सब पूँजीपतियों की निजी सम्पत्ति बन गए हैं अतः श्रमिक को विवश होकर अपनी श्रम-शक्ति को उनके हथों बेचना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसके श्रम से उत्पन्न होने वाला अतिरिक्त मूल्य पूंजीपतियों के हाथ में चला जाता है और श्रमिक अपनी मेहनत के पूरे फल का उपभोग करने से वंचित रह जाता है। जैसा कि पिछले प्रकरण में उदाहरण देते हुए कहा गया है, वह दस घण्टा काम करके केवल पाँच घण्टे की ही मज़दूरी पाता है। दूसरे शब्दों में वह पांच घण्टा अपने लिए काम काम करता है तो पांच घण्टा पूंजीपति के लिए काम करता है जिसके बदले में उसे कुछ नही मिलता। **यह अतिरिक्त श्रम जन्य अतिरिक्त मूल्य ही पूंजीपति के निरन्तर बढ़ते हुए लाभ का कारण बनता है।**

यहां पर यह भी समझ लेना चाहिए कि लाभ और अतिरिक्त मूल्य एक नहीं है। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। पूँजीपति अपने कारखाने में मजदूरों को लगाकर उनके श्रम से जिस मात्रा में अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करता है वह सब उसका लाभ नहीं है। वास्तव में लाभ की मात्रा अतिरिक्त मूल्य से कम रहती है क्योंकि पूँजीपति को माल के उत्पादन से लेकर बाजार में उसके विक्रय की अवस्था तक अनेक प्रकार के फुटकर खर्च करने पड़ते हैं, तरह-तरह के टैक्स देने पड़ते हैं, और यदि उसके पास पूंजी कम है और उसने रुपया उधार लेकर लगाया है तो उसका सूद भी देना पड़ता है। अतः अतिरिक्त मूल्य में से इस प्रकार के सब खर्च को कम करने के बाद जो कुछ बचता है वही उसका वास्तविक लाभ **'निवल लाभ'**[1] कहा जा सकता है।

---

1. Net Profit.

अतिरिक्त मूल्य वह साधन है जिसके द्वारा हम श्रमिक की श्रमशक्ति से उत्पन्न होने वाली अतिरिक्त आय, वृद्धि या बेशी का निर्धारण करते हैं जब कि लाभ किसी उद्योग में लगाई गई सम्पूर्ण पूँजी पर मिलने वाला औद्योगिक या निवल लाभ है।'

यह ठीक है कि अतिरिक्त मूल्य ही लाभ का जन्मदाता है परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि किसी उद्योग में जितनी अधिक मात्रा में अतिरिक्त मूल्य की निकासी होगी उसमें पूंजीपति को उतनी ही अधिक मात्रा में लाभ भी होगा। हमारे आज के पूंजीवादी समाज में पूंजी की ही महत्ता सब से अधिक है अर्थात् पूंजी ही वह प्रधान शक्ति है जो समस्त आर्थिक आयोजन का नियंत्रण करती है। अतः उद्योग धन्धों में पूंजी लगाने वाले व्यक्तिगत उद्योगपतियों को जो लाभ होता है वह उनके उद्योग विशेष में प्राप्त होने वाले अतिरिक्त मूल्य के अनुपात में नहीं वरन् पूंजी की उस मात्रा के अनुपात में होता है जो वे अपने उद्योग धन्धे में लगाते हैं। अतिरिक्त मूल्य को हम समाज के सामूहिक लाभ का योग कह सकते हैं। परन्तु जब इस सामूहिक लाभ का व्यक्तिगत पूंजीपतियों में बटवारा होता है तो उसमें निर्णायक हाथ पूंजी का ही रहता है। जिसने अधिक पूंजी लगाई है वह अधिक पाता है, भले ही उसके उद्योग विशेष में अतिरिक्त मूल्य की निकासी अपेक्षाकृत कम हो। समाज सामुदायिक रूप से जो लाभ प्राप्त करता है वह उसके द्वारा उत्पन्न किए गए सामुदायिक अतिरिक्त मूल्य पर निर्भर रहता है। अतिरिक्त मूल्य जितना अधिक होगा सामुदायिक लाभ की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी परन्तु व्यक्तिगत पूंजीपतियों द्वारा प्राप्त किए गए लाभ की मात्रा उनके उद्योग विशेष में प्राप्त होने वाले अतिरिक्त मूल्य के अनुसार नहीं बल्कि उस उद्योग में लगाई गई उनकी पूँजी के अनुसार होगी।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अब हम इस बात को समझ सकते हैं कि अनेक औद्योगिक आयोजनों में मजदूरों की संख्या कम होते हुए भी लाभ की मात्रा उन औद्योगिक आयोजनों की अपेक्षा अधिक क्यों होती है जिनमें मजदूरों की संख्या अधिक होते हुए भी पूंजी कम लगाई जाती है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक उद्योगपति व्यक्तिगत रूप से अपने उद्योग विशेष से प्राप्त होने वाले अतिरिक्त मूल्य के अनुसार लाभ नहीं प्राप्त करता है बल्कि उस पूजी के अनुसार प्राप्त करता है जो उसने अपने औद्योगिक आयोजन में लगाई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्तिगत उत्पादक अपने उद्योग विशेष से जो अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करता है

---

1. Karl Marx—Wages Price and Profit, P. 66.

वह सब का सब उसकी जेब में नहीं जाता है बल्कि तमाम पूंजीपतियों के बीच बट जाता है। कुछ भाग सूद के रूप में महाजन ले जाता है, कुछ एजेण्ट और दलाल ले जाते हैं, कुछ फुटकर व्यापारियों के पास जाता है अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक पूंजीपति जो किसी भी औद्योगिक आयोजन में किसी तरह अपनी पूंजी लगाता है वह अतिरिक्त मूल्य का एक अंश प्राप्त कर लेता है, चाहे उसकी उत्पत्ति अन्यत्र हो क्यों न हुई हो। उदाहरण के लिए एक महाजन स्वयं माल के उत्पादन में प्रवृत होकर अतिरिक्त मूल्य का अर्जन नहीं करता है वरन रुपया उधार देकर पूंजी के बल पर दूसरों के द्वारा अर्जित अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त कर लेता है। अतः अतिरिक्त मूल्य **एक समष्टिगत लाभ है। परन्तु व्यक्तिगत पूंजीपतियों में इस लाभ का बटवारा व्यापार में लगी हुई उनकी अपनी-अपनी पूंजी के अनुसार होता है।**

यदि बाजार में बेचने के लिए तैयार किए गए माल में से कच्चे माल और मशीनरी आदि के दाम घटा दिए जांय तो बचा हुआ दाम श्रम की उस मात्रा के बराबर होगा जो श्रमिक ने उसके उत्पादन में लगाई है। यदि उस माल के उत्पादन में श्रमिक ने दस घण्टे का श्रम लगाया है और एक घण्टे का श्रम मुद्राओं में एक रुपया के बराबर है तो हम कह सकते हैं कि श्रमिक ने उस माल में दस रुपए के मूल्य की सृष्टि की है। श्रम शक्ति से उत्पन्न होने वाले यह दस रुपए ही ऐसे हैं जिनका बटवारा मजदूरी और अतिरिक्त मूल्य या लाभ के रूप में श्रमिक और पूंजीपति के बीच होता है अर्थात् माल का स्वामी पूंजीपति इन रुपयों से ही श्रमिक की मजदूरी चुकाता है और अपने लिए लाभ के रूप में बचत का आयोजन करता है। यह स्पष्ट ही है कि इस धन का बटवारा मजदूर और पूंजीपति के बीच किसी भी रूप में क्यों न किया जाय परन्तु इससे माल के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यहां पर ध्यान देने योग्य विशेष बात यही है कि इस बटवारे में एक पक्ष को जितना ही कम मिलेगा दूसरे पक्ष को उतना ही अधिक मिलेगा। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि **मजदूरी और लाभ का विकास सदा विपरीत दिशाओं में होता है। मजदूरी की दर जितनी ही घटती जाती है, लाभ की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाती है।**[1]

---

1. 'If wages fall profits will rise,and if wages rise profits will fall........ A general rise of wages would therefore result in a fall of the general rate of profit but not affect values.'

Karl Marx—Wages Price and Profit, P. 72.

पूंजीपति का उद्देश्य पूंजी लगाकर लाभ कमाना है अतः वह हर सम्भव उपाय से मजदूरी को घटा कर अथवा कम समय में अधिक से अधिक काम करवा कर अपने लाभ को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है।

प्रतियोगिता और औद्योगिक संकट

मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कैपिटल' में पूंजीपतियों की लाभ वृत्ति पर सुन्दर व्यंग्य करते हुए कहा है कि जहाँ तक अधिकाधिक अमीर बनने और अधिकाधिक मूल्य प्राप्त करने की अतृप्त आकांक्षा का प्रश्न है वहां तक तो सूम और पूंजीपति एक हैं। यदि उनमें अन्तर हो सकता है तो केवल इसी बात का कि सूम एक पूंजीपति है जो पागल हो गया है और पूंजीपति एक ऐसा सूम है जो सजग और सतर्क होकर होश में आ गया है।'[1] कहने का तात्पर्य यह है कि सूम अपनी सम्पत्ति की वृद्धि तो चाहता है परन्तु अपनी पूंजी को अपने पास से अलग नहीं करना चाहता, इसके विपरीत पूँजीपति अपनी पूँजी को बेकार नहीं रहने देता। लाभ प्राप्त करने की धुन में अपनी पूंजी को निरन्तर उद्योग धन्धों में लगाता रहता है। लाभ प्राप्त करने का आकर्षण उसके मन में ऐसा प्रबल होता है कि जो उसे एक क्षण भी चैन से नहीं बैठने देता। **मार्क्स के शब्दों में लाभ प्राप्त करते रहने की अनन्त प्रक्रिया ही उसका एक मात्र उद्देश्य है।**[2]

---

1. 'This urge towards absolute enrichment, this passionate hunt for value is shared by the capitalist with the miser but whereas a miser is only a capitalist gone mad, a capitalist is miser who has come to this senses.'

   Karl Marx—Capital Vol. I, PP. 138-139.

2. '........What he (capitalist) aims at is the never ending process of profit making.'

   Karl Marx— Capital Vol. I, P. 138.

लाभ की दौड़ में अपने प्रतिद्वन्दी को पछाड़ कर और उसके लाभ को छीन कर हर पूंजीपति अपना लाभ बढ़ाना चाहता है। अपने माल को प्रतियोगी की अपेक्षा सस्ते दामों पर बेच कर ही एक पूंजीपति दूसरे पूंजीपति को बाजार से उखाड़ सकता है और उसके लाभ को हड़प सकता है। यह तभी संभव हो सकता है जब उसके माल का उत्पादन भी अपेक्षाकृत सस्ता हो।[1] माल के सस्ते उत्पादन के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि श्रम की उत्पादन शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय अर्थात् उतनी ही मजदूरी देकर अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त किया जाय। श्रमशक्ति से उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के केवल दो उपाय हैं। एक तो यह कि मजदूर से अधिक सख्ती के साथ और अधिक घण्टों तक काम लेकर उसे अधिक उत्पन्न करने को विवश किया जाय। उदाहरणार्थ उससे ८ या १० घण्टे प्रतिदिन काम न लेकर १२ घण्टे काम लिया जाय। इस प्रकार मजदूर अपने स्वामी के लिए अधिक उत्पादन करेगा और उसकी मजदूरी की कीमत के बराबर की पैदावार घटा देने से पूंजीपति के लिए अधिक अतिरिक्त मूल्य बच रहेगा।[2] दूसरा उपाय यह है कि चाहे काम के घण्टे पूर्ववत ज्यों के त्यों बने रहें, किन्तु टेकनीक में उन्नति हो जाने से हर घण्टे की पैदावार में वृद्धि की जा सके। जब ऐसा होगा तब मजदूर अपनी जीविका के लिए कम समय काम करेगा मगर वह पूंजीपति के लिए अधिक से अधिक समय काम करके अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न करेगा। इस प्रकार जब पूंजीवाद उत्पादन के साधनों में क्रान्ति उत्पन्न कर देता है और उसके द्वारा श्रमोत्पादक शक्ति में वृद्धि होती है तब पूंजी सुलभ अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ जाता है, यद्यपि श्रम शक्ति और काम के घण्टों में कोई कमी बेशी नहीं होती।[3]

---

1. 'One capitalist can drive out from the field and capture his capital only by selling more cheeply. In order to be able to sell more cheeply, without ruining himself, he must produce more cheeply..........'

   Karl Marx—Wage Labour and Capital—Marx Engels Selected Works, Vol. I, P. 92.

२. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० २२।

३. वही, पृ० २३।

जहां तक काम के घण्टे बढ़ा कर अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने का प्रश्न है वहां तक पूंजीपति एक सीमा के आगे मनमानी नहीं कर पाता है क्यों कि अधिक घण्टों तक काम करने से थकावट और बीमारी पैदा होती है। एक सीमा के बाद फिर मजदूरों की कार्य क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ने लगता है, इसके अतिरिक्त मजदूरों में असंतोष भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए पूंजीपति सस्ते माल के उत्पादन और अधिक अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति के लिए टेकनिक की उन्नति पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। वह अपने कारखानों में पुरानी मशीनों को बदल बदल कर नवाविष्कृत तीव्रगामी, दैत्याकार मशीनें लगाता रहता है[1] जो थोड़े समय में अधिकाधिक माल उत्पन्न करने की क्षमता रखती है और जिनके संचालन के लिए अपेक्षाकृत कम व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। पुरानी मशीनों पर काम करने के लिए जहाँ दस आदमियों की आवश्यकता पड़ती थी वहां नई मशीनों पर उसी काम के लिए दो ही चार व्यक्तियों की आवश्यकता रह जाती है। फलतः मजदूरों की छटनी होने लगती है और बेकार मजदूरों की संख्या दिन पर दिन बढ़ने लगती है।[2] पूंजीपति को थोड़े आदमियों की आवश्यकता है परन्तु बाजार में एक बड़ी संख्या में मजदूर अपनी श्रमशक्ति के बेचने के लिए विद्यमान हैं तो मांग और पूर्ति के नियम के अनुसार इसका परिणाम यह होता है कि मजदूरों में होड़ आरम्भ हो जाती है और मजदूरी की दर घटते घटते अपने निम्नतम स्तर पर आ जाती है।[3] मजदूरी की दर घट जाने से पूंजीपति को अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति और भी अधिक मात्रा में होने लगती है।

---

1. 'The bourgeoisie cannot exist without constantly revolutionising the instruments of production ... .'

   Marx & Engels—Manifesto of the Communist Party—Marx Engels Selected Works Vol. I, P, 36.

2. 'It (machinery) brings about the same results where it is newly instroduced by throwing the hand workers into the streets in masses.........'

   Karl Marx—Wage Labour and Capital—Marx Engels Selected Works, Vol. I, P. 95.

3. 'The result is that more he works the less wages he receives, and for the simple reason that he competes to that extent with his fellow workers.'

   Karl Marx—Wage Labour and Capital—Marx Engels Selected Works Vol. I, P. 95.

पूंजीपति अपने कारखानों में कितना ही यान्त्रिक विकास क्यों न कर ले परन्तु उसे सदा इसी बात का भय लगा रहता है कि कहीं वह अपने प्रतियोगी अन्य पूंजीपति की तुलना में निर्बल न पड़ जाय और उससे बड़े पूंजीपति सस्ते माल की होड़ में उसे बाजार से उखाड़ न दें। अपने अस्तित्व रक्षा का यह भय उसे एक क्षण भी चैन से बैठने नहीं देता। 'मत्स्य न्याय' के अनुसार हर बड़ा पूंजीपति अपने से छोटे और कमजोर पूंजीपति को खा जाना चाहता है अतः वह एक ऐसे चक्र में फंस जाता है जहां अपने अस्तित्व रक्षा के निमित्त आंखे बन्द करके निरंतर यान्त्रिक उन्नति करते रहने तथा अधिक से अधिक और सस्ते से सस्ते माल का उत्पादन करके बाजार में भेजते रहने के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता है। "उसके माल की सस्ती कीमतें ही वे भारी तोपें हैं जिनके जरिए वह तमाम चीनी दीवारों को ढहा देता है।"[१]

अस्तित्व रक्षा की इस होड़ में प्रत्येक पूंजीपति अधिकाधिक मात्रा में बाजार में सस्ता माल भेजता चला जाता है जिसके फलस्वरूप उत्पादन के क्षेत्र में अस्त-व्यस्तता और उद्देश्यहीनता छा जाती है। उत्पादन का लक्ष्य आवश्यकता पूर्ति न होकर अब उत्पादन ही उत्पादन का लक्ष्य बन जाता है। ऐंगेल्स के शब्दों में "किसी को यह होश नहीं रहता कि उसके द्वारा उत्पादित माल कितनी मात्रा में बाजार में पहुंच रहा है और वहां पर उसकी कितनी मांग है यह कोई नहीं जानता कि उसके द्वारा उत्पादित वस्तु विशेष की वास्तविक मांग कितनी होगी, उसकी लागत निकल सकेगी या नहीं अथवा वस्तु बाजार में बिक सकेगी या नहीं। सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में अराजकता फैल जाती है।"[२] योजनाविहीन उत्पादन की यह अराजकता ही कालान्तर में

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पृ० ४०।

2. "No one knows how much of the article he produces is coming into the market, or how much demand there is for it, no one knows whether his individual product will meet a real need, whether he will cover his costs or even be able to sell it at all. Aharchy reigns in social production."

F. Engels : Anti - Duhring, P. 305.

घोर व्यापारिक संकट को जन्म देती है जिसके आते ही पूँजीवादी संसार में खलबली मच जाती है और बड़े बड़े पूँजीपतियों का अस्तित्व भी डगमगाने लगता है।[1]

औद्योगिक संकट किस प्रकार उत्पन्न होता है और पूंजीपति उससे किस प्रकार छुटकारा पाने की युक्ति निकालता है, यह भी जान लेना आवश्यक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक पूंजीपति अपने अस्तित्वरक्षा की होड़ में एक ओर जहाँ अधिक से अधिक और सस्ते से सस्ता माल बना कर बाजार मे भेजता चला जाता है वहाँ दूसरी ओर मजदूरों की मजदूरी भी घटाता जाता है और यान्त्रिक विकास के फलस्वरूप मजदूरों की छटनी करके बेरोजगारों की संख्या बढ़ा कर जनता के एक बहुत बड़े भाग की क्रयशक्ति भी निरन्तर कम करता चला जाता है। इन दोनों बातों का सम्मिलित परिणाम यह होता है कि बाजार में व्यापारियों के गोदाम माल से भर जाते हैं परन्तु जन साधारण की क्रयशक्ति क्षीण हो जाने से और बाजार में आवश्यकता से कही अधिक माल एकत्र हो जाने से उसकी माग बहुत गिर जाती है। जब पूंजीपति देखता है कि बिक्री बहुत धीमी हो गई है और बाजार में बगैर बिके हुये माल के ढेर लगे हुए हैं तो वह घबरा कर उत्पादन बन्द कर देता है। मिलें और कारखानों के बन्द होने से बेरोजगारी और अधिक बढ़ती है और जनता की क्रयशक्ति का और अधिक ह्रास होता है। उत्पादन के विकास की धुन में जिन पूँजीपतियों ने बैंकों से या अन्य स्थानों से रुपया उधार लेकर अपने उद्योग धन्धों में लगाया था वे एक एक करके दीवालिया होने लगते हैं क्योंकि माल के न बिकने से उनका रुपया फँस जाता है और वे ऋण चुकाने में असमर्थ हो जाते हैं। ऋण के वापस न मिलने पर बैंकें भी दीवालिया होकर टूटने लगती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण आर्थिक, व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में घोर अव्यवस्था व्याप्त हो जाती है जिसमें अनेक पूंजीपतियों का अस्तित्व विलीन होता जाता है।

इस संकट से त्राण पाने के लिए पूँजीपति कुछ समय के लिए उत्पादन को रोक देता है या बहुत कम कर देता है। बाजार के माल को कम दामों पर निकालने का

---

1. "It is enough to mention that the commercial crises by their periodical return, put on its trial, each time more threateningly, the existence of the entire bourgeois society."

Marx & Engels—Manifesto of the Communist Party—Marx Engels Selected Works, Vol. I, P. 38.

प्रयत्न करता है और उत्पादित माल की एक बहुत बड़ी राशि को स्वयं ही नष्ट कर देता है।' इसके अतिरिक्त अपने माल की खपत के लिए नये बाजारों की खोज करता है। कुछ समय के बाद गोदामों के खाली हो जाने पर माल की मांग बढ़ने लगती है और बन्द कारखाने फिर चल पड़ते हैं। जो पूँजीपति संकट काल में दीवालिया होने से बच गए थे उनके लिए खुशहाली का समय आ जाता है। परन्तु उनकी यह खुशहाली स्थायी नहीं रह पाती। पहले की तरह पूंजीपतियों में फिर होड़ चल पड़ती है और कुछ समय के बाद फिर एक नया औद्योगिक संकट आ उपस्थित होता है। इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संकट और खुशहाली का यह चक्र चलता ही रहता है।'

औद्योगिक संकट पूंजीवादी संसार का एक ऐसा अभिशाप है जो राहु और केतु की तरह समय-समय पर उसे ग्रसता रहता है और जिससे स्थायी रूप से मोक्ष पाने की सामर्थ्य योजना-विहीन पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में नहीं है।

---

1. '... ... .both productive forces and products are squandered and destroyed on a large scale, until the accumulated masses of commodities are at last disposed of at a more or less considerable depreciation until production and exchange gradually begin to move again.'

   F. Engels : Anti - Duhring, P. 310.

2. "The first general crisis occured in 1825. Then there were recurrent crises in 1836, 1847, 1857, 1866, 1873, 1877, 1889, 1900, 1907 and a crisis began to develop in 1914 but its development was stayed by the world war. Then came a crisis in 1921 and one broke out in all its fury in 1929."

   The Features of Capitalism—Ed. Krishna Swami, P. 11.

पूंजी का केन्द्रीकरण और एकाधिकार

पूँजीपतियों की आपसी स्पर्द्धा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस स्पर्द्धा का परिणाम यह होता है कि छोटे और मध्यम श्रेणी के पूंजीपति एक एक करके बड़े पूंजीपतियों के उदर में समाते चले जाते हैं। एक ओर जहाँ उनकी संख्या निरन्तर घटती जाती है वहाँ दूसरी ओर थोड़े से पूंजीपतियों के हाथों में अधिकाधिक मात्रा में पूंजी केन्द्रित होती जाती है। छोटे उद्योग धन्धों और कल कारखानों का स्थान विशालकाय, दैत्याकार कल कारखाने ले लेते हैं। औद्योगिक संकट काल में यह प्रवृत्ति और भी तीव्र हो जाती है क्योंकि इस विभीषिका से केवल बड़े पूंजीपति ही उबर पाते हैं। इस प्रकार विशाल उद्योग धन्धों के रूप में उत्पादन के केन्द्रीकरण के साथ ही साथ मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथों में पूंजी का भी केन्द्रीकरण हो जाता है।

अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने और विरोधी पूंजीपतियों से प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने की भावना से परिचालित होकर किसी उद्योग विशेष और उसकी शाखाओं से सम्बन्धित बड़े बड़े पूँजीपति मिल कर न्यास या अभिषद् के रूप में संगठित हो जाते हैं। यह संगठन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—ट्रस्ट और कारटेल।[1]

जब कई कम्पनियां आपस में मिल कर पूर्णतया एक नई कम्पनी की रचना करती हैं, तो इसको ट्रस्ट कहते हैं। ट्रस्ट में मिलने वाली कम्पनियों का कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता वरन् पूर्णतया एक नई कम्पनी बन जाती है। इसे 'संविलयन'[2] भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए सन् १६३६ ई० में भारत की तात्कालिक सब सीमेण्ट कम्पनियों ने मिल कर एक नई कम्पनी बनाई थी जिसका नाम 'एसोशिएटेड

---

1. Trusts and Cartels.

2. Merger.

सिमेण्ट कम्पनीज आफ इण्डिया"[1] रखा गया था।[2] 'कारटेल' ऐसे संगठन को कहते हैं जिसमें सम्मिलित होने वाली कम्पनियां और कारखाने अपना पृथक अस्तित्व रखते हैं। उनका प्रबन्ध अलग अलग होता है परन्तु वे सब अपनी उत्पादित वस्तुओं को एक साझी विक्रय संस्था को दे देते हैं। सन् १६३६ में भारत में चीनी के कारखानों ने मिल कर एक अखिल भारतीय चीनी सिन्डीकेट[3] स्थापित की थी और सब ने अपनी तय्यार की हुई चीनी को बेचने का कार्य उनको सौंप दिया था।[4] इस प्रकार ट्रस्ट और कारटेल का प्रधान अन्तर यही है कि ट्रस्ट में उत्पादन और वितरण दोनों एक ही केन्द्रित अधिकार में रहते हैं जबकि कारटेल में केवल वितरण ही एक केन्द्रित अधिकार में रहता है और उत्पादन कार्य भिन्न भिन्न फर्मों द्वारा होता है। ट्रस्ट एक स्थायी संस्था होती है जिसमें सम्मिलित होने वाली औद्योगिक संस्थाएँ अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पूरी तरह मिटा देती हैं परन्तु इसके विपरीत कारटेल प्राय: थोड़े काल के लिए होता है। कारटेल में सम्मिलित होने वाली संस्थाएँ अपने हित का निरन्तर ध्यान रखती हैं और जब कभी उन्हें आवश्यकता होती है तो वे सम्मिलित समूह से अलग हो जाती हैं।

इस प्रकार ट्रस्ट और कारटेल आदि के रूप में संगठित होकर बड़े बड़े पूंजीपति बिना किसी विघ्न बाधा के माल के बाजार भाव को अपने नियंत्रण में रखने तथा एका से बाहर रहने वाले प्रतिद्वन्द्वी पूंजीपतियों का सफलता पूर्वक सामना कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। पूंजी के यही बड़े बड़े संगठन और संविलयन बढ़ते बढ़ते जब किसी उद्योग विशेष के अधिकांश भाग को अपनी अधिकार सीमा के अन्तर्गत कर लेते हैं तो उन्हें **एकाधिकार**[5] की संज्ञा प्रदान की जाती है। एकाधिकार का तात्पर्य है भाव

---

1. Associated Cement Companies of India (A. C. C.)

२. केवल कृष्ण ड्यूबेट—अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त, पृ० १८०।

3. All India Sugar Syndicate.

४. वही, पृ० १८०।

5. Monopoly.

नियत करने की क्षमता, उत्पादन की मात्रा और व्यापार की गतिविधि पर नियंत्रण। दूसरे शब्दों में **एकाधिकार का अर्थ है बाजार पर नियंत्रण और शासन।**[1]

इन एकाधिकारी संस्थाओं की शक्ति का अनुमान हम इसी बात से कर सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में समस्त संसार की पूंजी का लगभग आधा भाग इसी प्रकार की संस्थाओं के हाथों में था। सन् १९०० ई० के आसपास संयुक्त राज्य अमेरिका के कपड़े के उद्योग का ५० प्रतिशत, शीशे के उद्योग का ५४ प्रतिशत, कागज के उद्योग का ६० प्रतिशत, खाद्य सामग्री सम्बन्धी उद्योग का ६२ प्रतिशत और ईस्पात की ढलाई के उद्योग का ८४ प्रतिशत इसी प्रकार के एकाधिकारी ट्रस्टों के अधिकार में था।[2] इसका एक अच्छा उदाहरण इंगलैण्ड की 'एसोशिएटेड पोर्टलैण्ड सीमेण्ट कम्पनी' भी है जो इस शताब्दी के आरम्भ में ४० लाख पौण्ड की पूंजी से खोली गई थी और जिसमें 'टेम्स' और 'मिडवे' की घाटी में काम करने वाली २७ छोटी बड़ी सीमेण्ट कम्पनियां सम्मिलित हुई थीं। बाद को इधर उधर फैली हुई अन्य ३२ कम्पनियों को भी खरीद कर अपने साथ मिलाने के लिए 'ब्रिटिश पोर्टलैण्ड सीमेण्ट कम्पनी' के रूप में इसे बदल दिया गया।[3] यह कम्पनियां अपने संघ बना कर एक समझौता करती हैं कि पूरे तय्यार माल को सीमित किया जाय और इस प्रकार बिक्री के दामों को चढ़ाए रखा जाय। पूंजी के केन्द्रीकरण में बैंकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है जिसके फलस्वरूप **महाजनी पूंजी**[4] का शक्तिशाली विकास हुआ है। वास्तव में बैंकों की उत्पत्ति ही पूंजीपतियों के आपसी लेन देन की माध्यमिक सस्था के रूप में हुआ है। जब एक पूंजीपति को बड़ी मात्रा में किसी दूसरे पूंजीपति को रुपया का भुगतान करना पड़ता है और संयोगवश उसके पास नकद रुपया तैयार नहीं होता है तो

---

1. 'Monopoly means domination of the market, the possibility of fixing price, the amount of production and codition of trade etc.'

   The Features of Capitalism—Ed. Krishna Swami, P. 13.

२. वही, पृ० १३।

३. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० २५—२६।

4. Finance Capital.

वह बैंक से ऋण लेकर भुगतान कर सकता है। बैंक सूद पर रुपया उधार देता है तो पूंजीपति भी बैंक में जब अपना रुपया जमा करता है तो सूद पाता है। अतः पूंजीपति के पास जब धन की कमी होती है तो भी और जब धन की अधिकता होती है तो भी दोनों अवस्थाओं में, समान रूप से बैंकों में रुचि रखता है। पूंजी को निष्क्रिय बना कर ऐसी अवस्था में रखना कि उससे कोई आय न हो, पूंजीवादी कार्यनीति के प्रतिकूल है। अतः जब कभी पूंजीपति के पास रुपया अधिक होता है और किसी कारणवश उद्योग धन्धों में उसका तात्कालिक उपयोग नहीं हो पाता है तो वह इसे बैंक में ही जमा करके सूद लेता रहता है। दूसरी ओर यदि किसी पूंजीपति के पास धन की कमी होती है तो वह बैंक से ऋण लेकर इस रुपए का उपयोग करता है। इस प्रकार बैंक एक मध्यस्थ का काम करती है। बैंक के टूटने से रुपया जमा करने वाले पूंजीपति की हानि होती है और पूंजीपति के उद्योग धन्धों के असफल होने से ऋण देने वाली बैंक की हानि होती है अतः दोनों एक दूसरे की सुरक्षा का ध्यान रखते हैं और दोनों ही एक दूसरे के प्रबन्ध को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित और नियंत्रित करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

अन्य उद्योगधन्धों के समान इन बैंकों में भी प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ती है जिसके फलस्वरूप बैंकों के भी बड़े-बड़े संगठन और संविलयन बनने लगते हैं। प्रचुर धनराशि के स्वामी होने के कारण यह संविलयन सर्वशक्तिमान एकाधिकारी बन जाते हैं जिनके नियंत्रण के अन्तर्गत छोटे बड़े पूंजीपतियों की नकदी पूंजी से लेकर उत्पादन के समस्त साधन तक आ जाते हैं। इस प्रकार पूंजीपतियों का एक छोटा गुट विशाल औद्योगिक कल कारखानों, बैंकों और यातायात के साधनों को अपनी मुट्ठी में कर लेता है और औद्योगिक क्षेत्र का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण देश की अर्थनीति का शासक और नियंत्रक बन जाता है।[1]

एकाधिकार के फलस्वरूप बैंकों एवं राजस्व संबंधी संस्थाओं और उद्योगों के बीच अत्यंत निकट का संबंध स्थापित हो जाता है तथा वे आपस में इतने मिल जाते हैं कि केन्द्रीय नियंत्रण की ओर उनका झुकाव बढ़ता जाता है। इस प्रकार प्रतियोगात्मक पूंजीवाद से एकाधिकार पूंजीवाद की ओर बढ़ने का मार्ग साफ हो जाता है। अब तक सैकड़ों छोटे-छोटे पूंजीपति एक दूसरे के विरुद्ध होड़ लगाए हुए थे और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति बाजार को पूर्णतः अपने नियंत्रण में रखने में असमर्थ था किन्तु अब

---

1. The Features of Capitalism—Ed. Krishna Swami, P. 16.

बाजार में एक ही फर्म या अनेक फर्मों का एक ही संयुक्त दल अपना पूर्ण अधिकार जमा लेता है ।[1]

इस प्रसंग में यह बात भी स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि एकाधिकार की वृद्धि के फलस्वरूप पूंजीपतियों की पारस्परिक स्पर्द्धा और विरोध की समाप्ति नहीं हो जाती है वरन् यह विरोध एक नया रूप धारण कर लेता है जो प्रायः अधिक विनाश-कारी होता है । डा० मारिस डाब के शब्दों में अब यह पहले की तरह माल को सस्ता करके लड़ी जाने वाली प्रतियोगिता की लड़ाई नहीं रहती। यह उन बड़े-बड़े औद्योगिक दैत्यों के बीच की लड़ाई होती है जो अपनी सत्ता एवं भूमि के निमित्त ठीक उसी तरह लड़ते हैं जैसे सामन्तशाही जमाने में 'बैरन' लड़ते थे और आज भी शोषकों के दल लड़ते हैं ।[2]

यह नये औद्योगिक दैत्य बाजार में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं और अपनी सुविधा के अनुसार कुछ अंशों तक दामों में भी हेर फेर कर सकते हैं । जो फर्में उनके द्वारा नियत किए गए दामों को घटाने का प्रयत्न करती हैं उनका बहिष्कार किया जाता है और उन्हें पूरी तरह समाप्त करने के लिए संघर्ष किया जाता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ में जो पूंजीवाद उत्पादन की टेकनीक में उन्नति कर के एवं अन्य क्रान्तिकारी परिवर्तन करके एक प्रगतिशील शक्ति बना था, वही अब उत्पादक शक्ति को सीमित एवं बेकार बना कर, नये आविष्कारों को, उनका उपयोग न होने देने के उद्देश्य से, खरीद कर और यह सब काम केवल इस उद्देश्य से करके कि दामों को ज्यों का त्यों कायम रखना है तथा "मौजूदा पूंजी के मूल्य को अक्षुण्ण बनाए रखना है"—प्रगति के मार्ग में रोड़ा बन गया है ।[3]

---

१. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० २५ ।

२. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० २७ ।

३. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० २६ ।

पूंजीवादी साम्राज्यवाद

पूंजीवादी प्रवृत्ति के संबंध में मार्क्स और एंगेल्स ने अपने प्रसिद्ध कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में लिखा है अपने माल के लिए बराबर बढ़ते हुए बाजार की जरूरत के कारण पूंजीपति वर्ग दुनियां के कोने-कोने की खाक छानता है। वह हर जगह घुसने की, हर जगह पैर जमाने की, हर जगह से सम्पर्क कायम करने की कोशिश करता है।[1] इस कथन में यह संकेत विद्यमान है कि पूंजीपति अपने देश अथवा राष्ट्र की सीमाओं में बंध कर कभी संतुष्ट नहीं रह सकता। अधिकाधिक उत्पादन की अनवरत प्रक्रिया और लाभ की अतृप्त लालसा उसे विदेशों में माल की खपत के लिए बाजारों की खोज करने और कच्चे माल की व्यवस्था करने के लिए बाध्य कर देती है। यही प्रवृत्ति कालान्तर में साम्राज्यवाद को जन्म देती है। इसीलिए लेनिन ने कहा है कि— "साम्राज्यवाद निःसदेह पूंजीवाद के विकास की एक विशेष अवस्था का द्योतक है।"[2]

महाजनी पूंजी का जैसे जैसे विकास होता जाता है वैसे ही वैसे पूजीवादी शक्तियों की नये बाजारों की और कच्चे माल की आवश्यकताएं भी बढ़ती जाती हैं। "प्रतियोगिता तथा सारी दुनिया में कच्चे माल की खोज जितना ही उग्र रूप धारण करती जाती है, उतनी ही ज्यादा हद तक सब कुछ दांव पर लगा कर उपनिवेशों को हथियाने का संघर्ष होने लगता है।"[3] बड़े बड़े पूंजीपतियों के एकाधिकारी संघों का प्रभुत्व पूंजीवाद की इस नवीनतम अवस्था की मुख्य विशेषता है। यह एकाधिकारी संघ पहले अपने देश के बाजार को आपस में बांट लेते हैं और उद्योगों को अपने नियंत्रण में कर लेते हैं फिर विकास की एक सीमा पर पहुंच कर वह अनुभव करने लगते हैं कि अपने देश के अन्दर अब लाभ प्रद ढंग से पूंजी के विकास के लिए क्षेत्र नहीं रह गया है, तब

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र पृ० ३९।

२. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० १२५।

३. वही, पृ० ११५।

वह अपने देश की सीमा से निकल कर अन्य पिछड़े हुए देशों में अधिक लाभप्रद ढंग से पूंजी को लगाने की योजना बनाता है। पिछड़े हुय देशों में पूंजी के निर्यात के कारणों की व्याख्या करते हुए लेनिन ने लिखा है "यह तो मानी हुई बात है कि यदि पूंजीवाद कृषि का विकास कर सकता, जो आज हर जगह उद्योगों से बेहद पीछे है, यदि वह जनसाधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठा सकता, जिन्हें आज भी आश्चर्य-जनक प्राविधिक उन्नति के बावजूद हर जगह भरपेट भोजन नहीं मिलता और जो दरिद्रता के शिकार हैं, तो पूंजी के अति बाहुल्य का कोई सवाल ही पैदा न होता। ··· परन्तु यदि पूंजीवाद यह सब कुछ करता तो वह पूंजीवाद ही न होता, क्योंकि असमान विकास और जन साधारण को भरपेट भोजन न मिलना ये दोनों ही बातें, इस उत्पादन प्रणाली की आधारभूत तथा अनिवार्य शर्तें तथा मान्यताएं हैं। जब तक पूंजीवाद पूंजीवाद रहेगा तब तक फालतू पूंजी उस देश विशेष के जनसाधारण के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने के लिये नहीं स्तेमाल की जायगी क्योंकि इसका मतलब होगा पूंजीपतियों के मुनाफे में कमी, बल्कि उसका स्तेमाल पिछड़े हुए देशों में पूंजी का निर्यात करके मुनाफे को बढ़ाने के लिए किया जायगा।"[1]

पिछड़े हुए देशों में पूंजी का निर्यात पूंजीपतियों के लिए विशेष रूप से लाभ दायक इस लिए होता है कि इन देशों में जमीन सस्ती होती है, कच्चा माल सस्ते दामों पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, इसके अतिरिक्त मजदूरी भी बहुत सस्ती होती है। पूंजीवादी देशों के मजदूर सजग और संगठित होकर अधिक मजदूरी की मांग करते हैं। इसके विपरीत पिछड़े हुए देशों के मजदूर गरीब होने के कारण कम मजदूरी पर उसी काम को कर सकते हैं और असंगठित होने कारण, अधिक मजदूरी की मांग करने पर आसानी से दबाए जा सकते हैं।[2]

पिछड़े देशों में पूंजी लगाने के कई तरीके हैं। रेलों और बंदरगाहों में रुपया लगाना, वहां की कम्पनियों को ऋण देना। "पिछड़े देशों में पूंजी लगाने का एक तरीका यह भी है कि वहां की सरकारों पर कर्जा लादा जाय। अमरीका आज कल इस तरीके का सब से अधिक इस्तेमाल कर रहा है। यह कर्जा यों ही नहीं मिल जाता। कर्जे के साथ साथ यह शर्त भी लगा दी जाती है कि इस कर्जे से हमारा

---

१. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० ८५–८६।

२. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० ८६।

इतना माल जरूर खरीदना पड़ेगा यह दोहरी लूट है। पहले कर्ज देकर सूद लो फिर अपना सामान बेच कर मुनाफा कमाओ।"[1]

पूंजीपतियों के एकाधिकारी संघ जब किसी देश में अपनी पूंजी लगाते हैं तो अपनी पूँजी को सुरक्षित रखने लिए उस देश का राजनैतिक नियंत्रण भी अपने हाथ में रखने का प्रयत्न करते हैं। जैसे जैसे पूजी का निर्यात बढ़ता जाता है और बड़े-बड़े एकाधिकारी संघों के प्रभावक्षेत्र में वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के निर्माण के लिए परिस्थितियां अनुकूल होती जाती हैं। "यह पूजी तथा उत्पादन के विश्वव्यापी संकेन्द्रण की नयी मंजिलों से कही ज्यादा ऊंची है।"[2] इन एकाधिकारी संघों और राजनीतिक सत्ताओं के संघर्ष की ओर संकेत करते हुए लेनिन ने लिखा है, "**पूंजीवाद की नवीनतम अवस्था का युग हमें बताता है कि पूंजीवादी सघों के बीच कुछ ऐसे संबंध पैदा हो जाते हैं जो दुनियां के आर्थिक बटवारे पर आधारित होते हैं, जब कि इन्हीं के समानान्तर तथा इन्हीं के सिलसिले में राजनीतिक संघो के बीच, राज्यों के बीच कुछ संबंध पैदा होते हैं जिनका आधार दुनियां के क्षेत्रीय बटवारे पर, उपनिवेशों के लिए संघर्ष पर आर्थिक क्षेत्र के लिए संघर्ष पर होता है।**"[3]

पिछड़े देशों पर राजनीतिक अधिकार जमाने के दो तरीके हैं। पहला तरीका तो यह कि उन देशों को जीत कर उन्हें अपना उपनिवेश बना लिया जाय और इस प्रकार उन्हें सीधे अपने शासन के अन्तर्गत ले लिया जाय। विभिन्न देशों में लगी हुई अपनी पूँजी को सुरक्षित रखने के विचार से उन देशों को जीतने के लिए महाजनी पूंजीवादी देश बड़ी बड़ी सेनाओं का संगठन करते हैं। अपने माल को सुरक्षित रूप से एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने तथा नये नये बन्दरगाहों को प्राप्त करने के लिए यह पूंजीवादी शक्तियां बड़े बड़े युद्ध पोतों और जहाजो बेड़ों का निर्माण करती हैं।[4] इस प्रकार पूंजीवाद के विकास के साथ साथ शस्त्रीकरण का विकास भी आरम्भ

---

१. शिव वर्मा—पूंजीवाद समाज, पृ० २५।

२. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० ९३।

३. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० १०४-१०५।

4. The Features of Capitalism Ed. Krishna Swami, P. 17.

हो जाता है। इसका सब से अच्छा उदाहरण इंगलैण्ड है जहां पूँजीवाद का विकास सब से पहले आरम्भ हुआ, जिसे विदेशों में अपने माल को बेचने और वहाँ से कच्चा माल प्राप्त करने की सब से पहले आवश्यकता पड़ी। उसने तमाम देशों को माल और पूंजी भेजना आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप उसे 'संसार का कारखाना' कहा जाने लगा।[1] अपनी पूंजी और बाजारों को सुरक्षित रखने के लिए उसने बहुत बड़ी जहाजी शक्ति का निर्माण किया और संसार के अनेक देशों को जीत कर उन्हें अपना उपनिवेश बना लिया। भारत भी सन् १६४७ ई० से पहले अंग्रेजों का उपनिवेश ही था।

राजनैतिक अधिकार जमाने का दूसरा तरीका यह है कि पिछड़े हुए देशों में सीधे-सीधे सैनिक शक्ति का प्रयोग न करके कूटनीति का आश्रय लिया जाय अर्थात् दबाव डाल कर और बल प्रयोग की धमकी देकर अपने पिट्ठुओं की गुड़िया सरकारें स्थापित की जायं और उनके द्वारा उन देशों का राजनैतिक नियंत्रण अपने हाथों में रखा जाय। इसे **'अर्द्ध-उपनिवेशीकरण'** कहा जाता है।[2] गत महायुद्ध से पहले पूर्वी योरोप के देशों के साथ इंगलैण्ड का यही सम्बन्ध था। "अमरीका इस फन में आज सब से आगे है। वह सारी पूंजीवादी दुनियां का महाजन बन गया है और अपने कर्जों की रकमों के सहारे पूंजीवादी देशों तक पर अपनी राजनैतिक छिपी गुलामी लाद रहा है।"[3] इस प्रकार एकाधिकारी पूंजीवाद पिछड़े हुए देशों पर आर्थिक दासता के साथ साथ राजनैतिक दासता भी लादता चलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की ही एक अवस्था विशेष है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से, सर्व प्रथम साम्राज्यवाद की तात्विक व्याख्या करने का श्रेय **लेनिन** को दिया जाता है। उन्होंने साम्राज्यवाद की परिभाषा करते हुए कहा है कि **"पूँजीवाद की इजारेदार वाली अवस्था का नाम साम्राज्यवाद है।"**[4] एक अन्य स्थान पर इसी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—**"साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें पहुंच कर इजारेदारियों**

---

१. वही, पृ० १७।

२. शिव वर्मा—पूंजीवादी समाज, पृ० २५।

३. वही, पृ० २६।

४. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० १२३।

तथा वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व दृढ़रूप से स्थापित हो चुका है, जिस अवस्था में पूंजी का निर्यात अत्यधिक महत्व ग्रहण कर चुका है, जिस अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों के बीच दुनियां का बटवारा आरम्भ हो गया है, जिस अवस्था में सबसे बड़ी पूंजीवादी ताकतों के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रों का बंटवारा पूरा हो चुका है।''[1]

लेनिन ने साम्राज्यवाद की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसकी निम्नलिखित पांच मूल विशेषताओं का उल्लेख किया है :—[2]

१—'उत्पादन तथा पूंजी का संकेन्द्रण विकसित होकर इतनी ऊँची अवस्था में पहुंच गया है कि उसने इजारेदारियों को जन्म दिया है, जिनकी कि आर्थिक जीवन में एक निर्णायक भूमिका है।'

२—'बैंकों की पूंजी और उद्योगों की पूंजी मिल कर एक हो गई है, और इस वित्तीय पूंजी के आधार पर एक वित्तीय अल्पतन्त्र की रचना हुई है।'

३—'पूंजी के निर्यात ने, जो माल के निर्यात से भिन्न है, असाधारण महत्व धारण कर लिया है।'

४—'अतन्र्राष्ट्रीय इजारेदार पूंजीवादी संघों का निर्माण हुआ है जिन्होंने दुनियां को आपस में बांट लिया है।'

५—'सबसे बड़ी पूंजीवादी ताकतों के बीच पूरी दुनियां का क्षेत्रीय विभाजन पूरा हो गया है।'

साम्राज्यवाद के अन्तर्गत उपनिवेशों का अधिकाधिक शोषण किया जाता है जिसके फलस्वरूप उन देशों का आर्थिक विकास रुक जाता है और निर्धनता बढ़ती जाती है। साम्राज्यवादी देशों की एकाधिकारी पूंजीवादी शक्तियों का हित इसी में होता है कि वह उपनिवेशों के औद्योगिक विकास को एक सीमा से आगे न बढ़ने दे। इस डर से कि कहीं यह उपनिवेश उनके प्रतिद्वन्द्वी न बन जांय वे औपनिवेशिक उद्योग के स्वतंत्र विकास को निर्दयता पूर्वक दबाते रहते हैं। उपनिवेशों पर वे अपना अधिकार केवल

---

१. वही, पृ० १२४।

२. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० १२४।

इसी उद्देश्य से बनाए रखते हैं कि 'उन्हें वहां से कच्चा माल तथा कृषि संबंधी पैदावार का माल मिलता रहे। इस प्रकार अंतिम रूप से साम्राज्यवाद का प्रभाव औपनिवेशिक क्षेत्रों के औद्योगिक विकास को पीछे ले जाने वाला सिद्ध होता है।''

साम्राज्यवाद और युद्ध

साम्राज्यवाद के साथ साथ युद्ध की भावना भी अनिवार्य रूप से संलग्न है, क्योंकि साम्राज्यवाद के गर्भ में ही वे कारण सदा विद्यमान रहते हैं, जो समय समय पर युद्ध को जन्म देते रहते हैं। बड़े बड़े पूंजीवादी एकाधिकारी संगठन पिछड़े हुए देशों में अधिक लाभदायक ढंग से अपनी पूंजी लगाने के लिए उपनिवेशों की खोज करते हैं और इस प्रकार उन पिछड़े हुए देशों को अपना उपनिवेश बनाने के लिए युद्ध करते हैं। भारतवर्ष को ही अपना उपनिवेश बनाने के लिए इंगलैंड की 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने तथा फ्रान्स और पुर्तगाल की पूंजीवादी शक्तियों ने कितनी लड़ाइयां लड़ी हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं है। साम्राज्यवाद के आरम्भिक युग की यह लड़ाइयां आज के महायुद्धों के समान विश्व व्यापी नहीं होती थीं। वे अधिकतर स्थानीय क्षेत्रों में ही लड़ी जाती थीं और सम्बन्धित देशों के अतिरिक्त शेष संसार उनसे अलग रहता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आते आते उपनिवेशीकरण और अर्द्ध उपनिवेशीकरण की यह प्रक्रिया अपनी पूर्णता पर पहुंच गई। पूंजीवादी शक्तियों ने संसार के कोने कोने को छान डाला और जहां भी उन्हें अपने पैर जमाने का स्थान मिल सका, उन्होंने अपने प्रभाव क्षेत्र स्थापित कर लिए। सन् १६१४ ई० तक सम्पूर्ण संसार पूंजीवादी शक्तियों के बीच बट गया। लेनिन के शब्दों में "पूंजीवादी देशों की औपनिवेशिक नीति ने हमारे इस ग्रह पर खाली इलाकों पर आधिपत्य जमाने का काम

१. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० ३६।

पूरा कर लिया है। पहली बार दुनियां पूरी तरह बट गई है और इसलिए अब भविष्य में उसका पुनर्विभाजन ही संभव है, अर्थात अब यह नहीं हो सकता कि कोई ऐसा इलाका जिसका कोई मालिक न हो किसी 'मालिक' के कब्जे में आ जाय, बल्कि अब तो केवल यह हो सकता है कि इलाके एक मालिक के हाथ से दूसरे के हाथ में चले जांय।"[1]

पूंजीवाद की एक विशेषता यह भी है कि उसका विकास असमान और अनियमित ढंग से होता है। आरम्भ में इंगलैण्ड पूंजीवादी विकास की दृष्टि से अन्य देशों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ा हुआ था। जर्मनी से बड़े पैमाने पर उद्योग धन्धों का विकास बाद में आरम्भ हुआ परन्तु कुछ ही समय में वह इंगलैण्ड को पीछे छोड़ कर उससे भी आगे निकल गया। अब उसे भी अपने माल की खपत और पूंजी के निर्यात के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता हुई। संसार का विभाजन पूंजीवादी शक्तियों के बीच पहले हो चुका था अतः जर्मनी के लिए कोई स्थान नहीं था। अब तो केवल एक ही उपाय था कि संसार का पुनर्विभाजन किया जाय। कोई पूंजीवादी शक्ति अपने उपनिवेश छोड़ने को तैयार न थी अतः पुनर्विभाजन के लिए युद्ध भी अनिवार्य था। सन् १९१४-१८ ई० का विश्वव्यापी महायुद्ध पूंजीवादी शक्तियों की औपनिवेशिक स्पर्द्धा और लूट खसोट का ही परिणाम था। सन् १९३९-४५ का द्वितीय महायुद्ध भी ऐसा ही था।

फ़ासिज्म (तानाशाही) भी साम्राज्यवाद और एकाधिकार पूंजीवाद की ही एक अवस्था विशेष है। यह अवस्था उस समय आती है जब किसी देश के पूंजीवादी एकाधिकारी संगठन बढ़ते-बढ़ते इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि वे अपने देश की सैनिक शक्ति और राजसत्ता पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं। अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों के नियंत्रण के कारण अपने देश के बाहर विकास का अवसर न पाकर वे युद्ध नीति को अपनाते हैं। जनता के लिए उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन कम करके बड़े परिमाण मे युद्ध सामग्री का उत्पादन करने लगते हैं और इस प्रकार नग्न और क्रूर सैनिक शक्ति का आश्रय लेकर पूंजी के विकास का मार्ग खोजते हैं। यह पिछड़े हुए देशों को ही नहीं वरन् औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों को भी जीत कर उपनिवेशों के रूप में बदलने की चेष्टा करते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण जर्मनी है जहाँ सन् १९३४ ई० से अनिवार्य रूप से कार्टेल की पद्धति स्वीकार की गई थी।[2] सन्

---

१. लेनिन—साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृ० १०६।

२. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० ४०।

१६३६ ई० के महायुद्ध के समय जर्मनी ने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर योरोप के अनेक उन्नत राष्ट्रों को जीत कर उनके उद्योग धन्धों को नष्ट करके, जर्मन उद्योगों के लिए कच्चा माल सप्लाई करने वाले बाजारों के रूप में उन्हें बदलने की चेष्टा की थी। "हिटलर की तथाकथित 'योरोप में नई व्यवस्था' योरोप के राष्ट्रों को राजनीतिक एव आर्थिक दृष्टि से अपने अधीनस्थ करके उन्हें जर्मन एकाधिकार पूंजीवाद के हाथ कठपुतली बन कर काम करने के लिए विवश, करने की योजना थी"।[१] फासिस्ट जर्मनी की पूंजीवादी शक्तियां किस प्रकार अपनी सैन्य शक्ति के बल पर अन्य राष्ट्रों का शोषण करना चाहती थीं यह नाज़ी मिनिस्टर डा० फ्रंक के जुलाई सन् १६४० ई० के एक भाषण से ही स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कहा था—"जर्मनी उस संगठित आर्थिक व्यवस्था की ओर ताक रहा है जिसका केन्द्र और जिसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी की आर्थिक स्थिति व आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा। पूर्व एवं दक्षिण पूर्व के जो कृषि प्रधान देश हैं उन्हें अपना औद्योगीकरण करने से रोका जायगा और उनको यह आदेश दिया जायगा कि वे अपना ध्यान अपनी कृषि को ही सुधारने में लगावें.... इन क्षेत्रों के लिए औद्योगिक उपादान की पूर्ति करने में जर्मनी का प्रमुख भाग होगा। चाहे जर्मनी ही एक मात्र इन देशों को माल सप्लाई करने वाला न रहे किन्तु आम तौर पर ये देश आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से जर्मनी पर ही निर्भर रहेंगे और उन्हें केवल वे वस्तुएं पैदा करनी होंगी जिन्हें जर्मनी स्वयं अपने और उनके लिए जरूरी समझता है।"[२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विकास की एक अवस्था विशेष पर पहुंच कर युद्ध पूंजीवाद का एक अनिवार्य अंग बन जाते हैं। वह युद्ध के बिना जीवित ही नहीं रह सकता। पूंजीवाद का यह प्रतिक्रियावादी नग्न और निर्दयरूप साम्राज्यवाद और फासिज्म के रूप में व्यक्त होता है। एमाइल बर्नस् के शब्दों में—"उत्पादन और पूंजी का केन्द्रीकरण ही जो प्रत्यक्षत: एक शुद्ध आर्थिक प्रक्रिया मात्र भासित होता है, कालान्तर में युद्ध की भयानक सामाजिक विभीषिका को जन्म देता है।"[३]

---

१. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था, पृ० ४१।

२. डा० मारिस डाब—पूंजीवादी शोषण व्यवस्था में उद्धृत, पृ० ४१–४२।

3. Emile Burns—What is Marxism, PP. 30—31.

पूंजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था केवल मात्र युद्धों का ही नहीं वरन् क्रान्तियों का भी युग है।[1] युद्धरत पूंजीवादी शक्तियां जिस देश में निर्बल पड़ जाती हैं और वहां की जनता राजनीतिक दृष्टि से जागरित और संगठित होकर पर्याप्त शक्ति का संचय कर लेती है वहां सफल क्रान्तियों के द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था का अंत होकर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो जाती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सोवियत संघ की स्थापना और द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक देशों में समाजवादी शक्तियों का उदय इसी प्रकार हुआ है। मार्क्सवाद सामान्यत: युद्ध का विरोधी और शान्ति का समर्थक है। वह ऐसे समस्त युद्धों का विरोध करता है, और उन्हें अन्याय युक्त समझता है जो साम्राज्यवादियों के हित साधन के लिए तथा जनता के दमन और शोषण के लिए लड़े जाते हैं। परन्तु साथ ही वह पूंजीवादी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध जनता के स्वाधीनता संग्राम का समर्थन करता है और ऐसे समस्त युद्धों को न्याय संगत समझता है जो जनता के द्वारा शोषण और साम्राज्यवादी दासता का अंत करने के लिए लड़े जाते हैं। उसका विश्वास है कि शोषकों पर जनशक्ति की विजय के द्वारा ही युद्धों को जन्म देने वाले कारणों का समूल उच्छेदन करके स्थायी विश्व शान्ति का सूत्रपात किया जा सकता है।[2]

पूंजीवाद की आंतरिक असंगतियां

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था कितनी ही विकसित क्यों न हो जाय, परन्तु वह स्थायी नहीं हो सकती। अन्तत: उसका पतन अवश्यम्भावी है क्योंकि उसके अंदर कुछ ऐसी असंगतियाँ विद्यमान हैं जो उसकी शक्ति को खोखला करके उसे विनाश की ओर लिए जा रही है।

---

1. 'The imperialist stage of capitalism is an epoch not only of wars but also of revolutions'.

   Emile Burns—What is Marxism, P. 31.

२. वही, पृ० ३१।

सामाजिक उत्पादन का व्यक्तिगत उपभोग ही अस्तव्यस्तता को जन्म देने वाली उसकी सबसे बड़ी असंगति है। वर्तमान पूंजीवादी यांत्रिक उत्पादन की प्रणाली वस्तुतः सामाजिक उत्पादन की एक प्रणाली है। छोटी से छोटी वस्तु के उत्पादन में भी कल कारखानों मे काम करने वाले सैकड़ों हजारों व्यक्तियों के हाथ लगते हैं। कहीं से मशीनें और पुर्जे आते हैं, कहीं से कोयला आता है, कहीं से रबड़ के पट्टे आते हैं, कहीं से कच्चा माल आता है तब कहीं जाकर कारखाने चलते हैं और उत्पादन की क्रिया पूर्ण होती है। इस प्रकार उत्पादन के क्षेत्र में कोई भी कारखाना अपने में स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। वह अनिवार्यतः अन्य अनेक कारखानों से सम्बन्धित रहता है और इस प्रकार उन कारखानों में काम करने वाले असंख्य मजदूर भी किसी एक कारखाने में बनने वाली वस्तु विशेष के उत्पादन में अप्रत्यक्ष रूप से योग देते रहते हैं। पूंजीवादी उत्पादन की इसी सामाजिक प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए ऐंगेल्स ने कहा है कि मिलों और कारखानों में जो सामान बनता है वह किसी व्यक्ति के नहीं वरन् सम्पूर्ण श्रमिक समुदाय के परिश्रम का फल है क्योंकि उसके उत्पादन में सभी ने अपने अपने ढंग से योग दिया है। उनमें से कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि यह वस्तु मेरी बनाई हुई है, इसका उत्पादनकर्ता मैं हूं।[1] इस प्रकार पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत माल का उत्पादन तो समाज के अधिकांश व्यक्तियों के द्वारा होता है परन्तु सामाजिक ढंग से उत्पादित यह माल एक अथवा दो चार पूंजीपतियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाता है। जिन लोगों ने उसके उत्पादन में सक्रिय भाग लिया था वे उसके उपभोग से वंचित रह जाते हैं। पूंजीपति उन्हें कम से कम मजदूरी देकर उनके परिश्रम का एक बड़ा भाग अतिरिक्त मूल्य के रूप में अपनी जेब में रख लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर तो थोड़े से पूंजीपतियों के हाथों में प्रचुर मात्रा में सम्पत्ति केन्द्रित होने लगती है दूसरी ओर विशाल जन समुदाय में निर्धनता और बेरोजगारी बढ़ती जाती है। यह आर्थिक

---

1. 'The yarn, the cloth and the metal goods which now come from the factory were the common product of many workers through whose hands it had to pass successively before it was ready. No individual can say of such products, I made it that is my product'.

F. Engels : Anti - Duhring, P. 302.

विषमता जितनी ही तीव्र होती जाती है सामाजिक जीवन में उतनी ही कलह, अशान्ति और अव्यवस्था बढ़ती जाती है।

पूंजीवादी व्यवस्था की इस प्रधान असंगति से ही अन्य अनेक असंगतियों का जन्म होता है। आज का वर्ग विद्वेष भी इसी असंगति का एक परिणाम है।[1] आर्थिक विषमता के फलस्वरूप आज समाज, पूंजीपति और सर्वहारा, इन दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया है। दोनों के हित एक दूसरे से विपरीत हैं अत: दोनों का संघर्ष अनिवार्य है और वर्ग संघर्ष के रहते हुए समाज में सुख ओर शान्ति भी असम्भव है। **समाज में स्थायी शान्ति स्थापित करने की असमर्थता ही पूंजीवाद की सबसे बड़ी निर्बलता है जो उसके अस्तित्व को चुनौती दे रही है।**

पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था के अन्तर्गत ध्यान देने वाली एक असंगति यह भी है कि कल कारखानों के अंदर तो उत्पादन बड़े ही सुसंगठित नियोजित और व्यवस्थित ढंग से होता है परन्तु कारखानों से बाहर सामाजिक क्षेत्र में आकर यही उत्पादन योजना विहीन, निरुद्देश्य और अव्यवस्थित हो जाता है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि कारखाने एक निश्चित योजना के अनुसार बनाये जाते हैं और उनमें काम करने वाले लोग अनुशासन बद्ध होकर काम करते हैं परन्तु उत्पादित वस्तुओं को बाजार में भेजते समय कोई भी पूंजीपति उन वस्तुओं की सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता की ओर ध्यान नही देता है। सस्ते माल की प्रतियोगिता में एक दूसरे को पछाड़ने की धुन में प्रत्येक पूंजीपति आंखे बन्द करके अधिक से अधिक मात्रा में उत्पादित

---

1. "The contradiction between social production and capitalist appropriation became manifest as the antagonism between proletaiat and bourgeoisie".

   F. Engels : Anti - Duhring, P. 305.

2. "The contradiction between social production and capitalist appropriation reproduces itself as the antagonism between the organisation of production in the individual factory and the anarchy of production in society as a whole".

   F. Engels : Anti - Duhring, P. 307.

वस्तुओं को बाजार में भेजता चला जाता है, चाहे समाज को उनकी आवश्यकता हो या न हो। उत्पादक के द्वारा उत्पादन नियंत्रित न होकर उल्टे उत्पादक के द्वारा उत्पादक ही नियंत्रित और शासित होता है।[1] उत्पादन की यह अराजकता और योजना विहीनता समय-समय पर घोर व्यापारिक संकटों को जन्म देती है जिसकी भयंकरता का उल्लेख पूर्व प्रसंग में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। अतः घातक प्रतियोगिता उत्पादन की अराजकता और व्यापारिक संकट पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अवश्यम्भावी परिणाम हैं, जिनसे त्राण पाने का उसके पास कोई उपाय शेष नहीं है।

इसके अतिरिक्त पूंजीपति सदा दोहरे संघर्ष में उलझा हुआ दिखलाई देता है। एक ओर मजदूरों से उसका संघर्ष निरंतर चलता रहता है तो दूसरी ओर पूंजीपतियों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा भी चलती रहती है जिसके फलस्वरूप वह अपने आप को हर तरफ शत्रुओं से घिरा हुआ देखता है। उसके मन में सदा एक ऐसी अनिश्चितता छाई रहती है जो उसे एक क्षण भी चैन से बैठने नहीं देती। यह दोहरा संघर्ष और स्थाई अनिश्चितता भी पूंजीवाद का एक ऐसा अभिशाप है जिससे उसके अस्तित्व की रक्षा हो सकना असंभव है।

अपने विकास के आरम्भिक युग में पूंजीवाद एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में अवतरित हुआ था। सामंतवादी दासता से दबे हुए किसानों की स्वाधीनता का नारा लगा कर सामंतशाही के विरुद्ध उनके संघर्ष का नेतृत्व किया था। वैज्ञानिक आविष्कारों को प्रोत्साहन देकर उत्पादन के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की थी। परन्तु विकास की एक सीमा पर पहुंच कर वही पूंजीवाद आज एक बहुत बड़ी रूढ़ि बन गया है। सामन्तवादी दासता से मुक्ति दिला कर उसने विशाल जन समुदाय को आज सर्वहारा के रूप में परिणत करके भूखों मरने के लिए विवश कर दिया है। बड़े-बड़े एकाधिकारी संघ बना कर वह नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों को खरीद लेता है और उन्हें प्रयोग में न लाकर नष्ट कर देता है ताकि उसके विरोधी उससे लाभ न उठा सकें। इस प्रकार वह प्रगतिशील न होकर प्रतिक्रियावादी बन गया है और विज्ञान की प्रगति को रोकने का प्रयत्न करता है। उसकी यह प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति भी उसके भावी विनाश की ओर ही संकेत करती है।

---

1. 'The product dominates the producers'.

वही, पृ० ३०५।

इन समस्त असंगतियों के प्रकाश में पूँजीवाद के अवश्यम्भावी विनाश की घोषणा करते हुए मार्क्स और ऐंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में लिखा है—**"अब पूंजीपति वर्ग, समाज का शासक वर्ग बनने और अपने जीवन विधान को एक अनियंत्रित कानून के रूप में समाज के ऊपर लादने के अयोग्य है। वह शासन करने के अयोग्य है अब समाज पूंजीपति वर्ग के नीचे नहीं रह सकता, दूसरे शब्दों में, अब पूंजीपति वर्ग का जिन्दा रहना समाज के साथ-साथ नहीं चल सकता।"**[१]

मार्क्स और ऐंगेल्स ने इस बात का भी संकेत कर दिया है कि पूंजीवाद के उन्मूलन का कार्य सर्वहारा वर्ग के हाथों ही सम्पन्न होगा, क्योंकि यह वर्ग आज के युग का सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग है।[२] पूँजीवाद के अन्तर्गत उद्योग-धन्धों के विकास के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग की शक्ति का भी विकास होता गया है। एक ओर उसकी संख्या में वृद्धि हुई है तो दूसरी ओर कल कारखानों में पूंजीवादी अनुशासन के अंतर्गत काम करके उसने सुसंगठित और अनुशासन बद्ध होकर अपने शत्रुओं से लड़ने की कला भी सीख ली है, साथ ही वर्ग सचेत्त होकर उसने अपनी वास्तविकत शक्ति को भी पहिचान लिया है। दूसरे शब्दों में पूंजीपति ने सर्वहारा वर्ग की विशाल सेना ही तैयार नहीं की है वरन् उसे अपने खिलाफ लड़ने की शिक्षा भी उसने स्वयं ही दी है।[३] अतः **"पूंजीपति वर्ग जो सब से बड़ी चीज पैदा करता है वह है उन लोगों का वर्ग जो खुद उसी की कब्र खोद डालेंगे। उसका (पूंजीपति वर्ग का) खातमा और मजदूर वर्ग की जीत, दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं।"**[४]

• • •

---

१. मार्क्स और ऐंगेल्स—कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पृ० ५०-५१।

२. वही, पृ० ४६।

३. वही, पृ० ४७-४८।

४. वही, पृ० ५१।